श्रीउपदेशामृत

(श्रीमद् रूप गोस्वामी विरचित)

मूल श्लोक, अन्वय, श्लोकार्थ, श्रीराधारमणदास गोस्वामी कृत श्रीउपदेश–प्रकाशिका टीका, टीकाका भावार्थ; श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर कृत पीयूषवर्षिणी–वृत्ति एवं श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' कृत अनुवृत्ति संवलित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी ॐविष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा अनुदित एवं सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—

श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

चतुर्थ संस्करण—

श्रीनित्यानन्द प्रभुकी आविर्भाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२२
७ फरवरी २००९

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰ प्र॰)
०५६५–२५०२३३४

श्रीरूप–सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰ प्र॰)
०५६५–२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰ प्र॰)
०५६५–२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰ बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी–३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११–२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५–२४४३१०१

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी, उड़ीसा
०६७५२–२२७३१७

विषय–सूची

परिशिष्ट (श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर विरचित)

प्राक्कथन

श्रीरूपानुग गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायमें 'श्रीउपदेशामृत' का बड़ा समादर है। श्रीरूप गोस्वामीने अनर्पितचर उन्नतोज्ज्वल श्रीकृष्णप्रेम-प्रदाता, श्रीकृष्णनामसङ्कीर्त्तनके मूल प्रवर्त्तक, श्रीराधाभावकान्तिसे देदीप्यमान श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके उपदेश-सिन्धुका मन्थन करके सार-स्वरूप इस 'उपदेशामृत' का जीवमात्रके कल्याणके लिए प्रकाशन किया है। भक्ति-साधकोंके लिए उपदेशामृतके उपदेशसमूह अपरिहार्य हैं। इन उपदेशोंके पालन किये बिना विमल भक्तिराज्यमें, विशेषतः दुर्ज्ञेय रागानुग भक्तिमार्गमें प्रवेश पाना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

प्रेमावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुके निकटतम प्रिय सेवक श्रीगोविन्द द्वारा लिखित कड़चों (श्लोकों) से ज्ञात होता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभुजी अपने अप्रकट-लीलाविष्कारसे पूर्व सब समय सुदीप्त विप्रलम्भ भावमें विभोर रहा करते थे। उस समय उनके अन्तरङ्ग परिकर श्रीस्वरूप दामोदर और राय रामानन्दजी भावानुरूप कृष्णकथाओं और पदावलियोंसे उन्हें सान्त्वना देनेका प्रयास करते थे। उन्हीं दिनों एक बार वे अपने परिकरोंके साथ समुद्र तटपर बैठे हुए कृष्णकथामें संलग्न थे। नीलसमुद्र उपकूलवर्ती सघन वृक्षावली तथा ऊँचे बालूके टीलेको देखकर हठात् उन्हें यमुना, यमुनाके तटवर्ती सुन्दर उपवनों, कुञ्जों एवं गिरि-गोवर्धनकी स्फूर्ति हो आयी। फिर तो वे कृष्णविरहमें फूट-फूटकर रोने लगे। कुछ देरमें आवेश शान्त होनेपर उन्होंने भक्तसमुदायमें धीरे-धीरे मधुर वाणीसे जो उपदेश दिया था, उन्हें श्रीरूप गोस्वामीजीने उसी समय श्लोकाकारमें लिपिबद्ध कर लिया। उन एकादश श्लोकोंकी समष्टि ही 'उपदेशामृत' है।

भक्तिराज्यमें प्रवेश करनेके लिए इच्छुक साधकोंको प्रारम्भमें भक्ति-प्रतिकूल क्रिया-कलापों, मन, वाणी, क्रोध, जिह्वा, उदर और उपस्थ (जननेन्द्रिय)—इन छः वेगों, अधिक आहार (संग्रह), वृथा प्रयास, वृथा ग्राम्य आलाप, नियमाग्रह, कुसङ्ग और लौल्य (असत् मतोंके ग्रहण करनेकी चञ्चलता) आदि दोषोंका परित्याग करना आवश्यक है। साथ ही भक्ति-पोषक विधियोंके पालनमें उत्साह, दृढ़ता, धैर्य, भक्ति सदाचार और भक्तोंकी वृत्तिको ग्रहण करना भी परमावश्यक है। कुछ दूर अग्रसर होनेपर छः प्रकारका सत्सङ्ग, त्रिविध भक्तोंका समादर और उनकी सेवाशुश्रूषा भी होनी चाहिये। अन्तमें कायिक और मानसिक रूपमें व्रजमण्डलमें निवास करते हुए व्रजरस-रसिक कृष्णानुरागी जनोंके आनुगत्यमें निरन्तर श्रीकृष्णनाम-रूप-गुण-लीलाकथाके कीर्त्तन और स्मरणमें अपनी जिह्वा और मनको नियुक्त करना चाहिये। श्रीमती राधिका श्रीकृष्णको सर्वाधिक प्रिय हैं, प्रियाजीका कुण्ड भी वैसे ही श्रीकृष्णको सर्वाधिक प्रिय है। इसलिए रागानुगा-भक्तिसाधकोंको श्रीकृष्णके सर्वाधिक प्रिय महाभाव-स्वरूपा श्रीमती राधिकाजी एवं श्रीराधाकुण्डका अवश्य ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। श्रीचैतन्य महाप्रभुके इन सर्वोत्तम उपदेशोंका सार उपदेशामृतके श्लोकोंमें पूर्णरूपेण संरक्षित है।

रचयिता महामहिम श्रीरूप गोस्वामीजी

श्रीउपदेशामृतके मूल-रचयिता श्रीरूप गोस्वामीजीको कौन नहीं जानता? उनके पूर्वज कर्णाटक प्रदेशके भारद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदीय ब्राह्मण-राजवंशी थे। इनके प्रपितामह श्रीपद्मनाभजी कुछ विशेष परिस्थितियोंमें मातृभूमि छोड़कर बङ्गालमें भगवती भागीरथीके किनारे नवहट्ट (नईहाटी) ग्राममें बस गये। इन्हींके पौत्र श्रीकुमारदेवके तीन पुत्र थे—अमर, सन्तोष और वल्लभ। आगे चलकर ये ही श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामी एवं अनुपमके नामसे प्रसिद्ध

हुए। इनकी असाधारण विद्वत्ता, योग्यता एवं व्यवहार कुशलतासे मुग्ध होकर बङ्गालके तत्कालीन मुसलमान शासक हुसैन शाहने इनमेंसे अमर और सन्तोषको साकर मल्लिक और दबीर खासकी उपाधिसे भूषितकर क्रमशः अपना प्रधानमन्त्री और उपप्रधानमन्त्री बनाया। किन्तु कुछ समयके पश्चात् कलियुगपावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्पर्कमें आकर तीनों भाईयोंने विपुल ऐश्वर्य-सम्पत्ति एवं सांसारिक मोह-ममताका सम्पूर्ण रूपसे त्यागकर परम निष्किञ्चन होकर श्रीराधाकृष्ण युगलकी मनोभीष्ट सेवामें अपनेको पूर्ण रूपसे समर्पित कर दिया। इन्होंने श्रीमन्महाप्रभुके निर्देशसे व्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंका उद्धार, लुप्त श्रीविग्रहोंका प्रकाश, भक्तिके प्रामाणिक ग्रन्थोंका प्रणयन तथा भक्ति-सदाचारका प्रचलन किया। श्रीवृन्दावनके प्रसिद्ध श्रीगोविन्दजीको पुनः प्रकटितकर, विशाल भव्य मन्दिर निर्माण कराकर उनकी राजसेवा प्रकाश करनेका श्रेय श्रीरूप गोस्वामीजीको ही है। इनका आविर्भाव काल १४११ शकाब्द और तिरोधान काल १४८६ शकाब्द है। इनके रचित ग्रन्थोंका प्रामाणिक उल्लेख श्रीजीव गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतकी 'लघु वैष्णवतोषणी' टीकामें किया है—(१) श्रीहंसदूत काव्यम्, (२) श्रीउद्धव सन्देश, (३) श्रीकृष्णजन्मतिथिविधि, (४) श्रीबृहत्-कृष्णगणोद्देशदीपिका, (५) श्रीलघुकृष्णगणोद्देशदीपिका, (६) श्रीस्तवमाला, (७) श्रीविदग्धमाधव नाटक, (८) श्रीललितमाधव नाटक, (९) श्रीदानकेलिकौमुदी, (१०) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, (११) श्रीउज्ज्वल-नीलमणि, (१२) श्रीप्रयुक्ताख्यातचन्द्रिका, (१३) श्रीमथुरा-माहात्म्य, (१४) श्रीपद्यावली, (१५) श्रीनाटकचन्द्रिका, (१६) श्रीलघुभागवतामृत, (१७) श्रीसामान्य विरुदावली लक्षण और (१८) श्रीउपदेशामृत।

टीकाकार श्रीराधारमण गोस्वामीजी

श्रीराधारमण दास गोस्वामीजीने उपदेशामृतके श्लोकोंकी एक संक्षिप्त किन्तु सार-गर्भित 'उपदेश-प्रकाशिका' नामक संस्कृत

टीकाकी रचना की है। श्रीराधारमणदास गोस्वामी श्रीवृन्दावनमें श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा प्रकटित एवं सेवित प्रसिद्ध श्रीराधारमणजीके सेवाईत गोस्वामी वंशमें आविर्भूत हुए थे। इनके पिताका नाम श्रीगावेर्धनलाल गोस्वामी तथा पितामहका नाम श्रीजीवनलाल गोस्वामी था। ये जीवनलाल गोस्वामी इनके दीक्षा और शिक्षा गुरु भी थे। गोस्वामीजी संस्कृत और हिन्दीके प्रकाण्ड विद्वान, सुलेखक एवं सुकवि थे। इनकी श्रीमद्भागवतकी 'दीपिका-दीपनी' टीका विद्वत् समाजमें आदरणीय है। उसी प्रकार यह 'उपदेशामृत-प्रकाशिका' टीका भी वैष्णव समाजमें परम आदरणीय है।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति लेखक
श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरजी

श्रीपीयूषवर्षिणी-वृत्तिके लेखक, स्वरचित सैकड़ों भक्ति-ग्रन्थोंकी रचनाकर आधुनिक भोग-प्रवणकालमें शुद्धभक्तिकी अवरुद्ध धाराको पुनः प्रवाहितकर युगान्तर उपस्थित करनेवाले श्रीभक्तिविनोद ठाकुर हैं। ये श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग नित्य परिकर हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरित और प्रचारित विमल प्रेमधर्मका विभिन्न रूपमें प्रचार-प्रसार करनेके कारण ये सप्तम गोस्वामीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। ये श्रीगौरधाम, श्रीगौरनाम, श्रीगौरकाम और श्रीगौर-लीलाकथाओंके प्रकाशक होनेके कारण श्रीगौरलीलाके व्यासवतार माने जाते हैं।

ये पश्चिम बङ्गालमें श्रीगौराविर्भाव-स्थली श्रीधाम मायापुरके सन्निकट वीरनगर नामक ग्राममें एक शिक्षित-सम्भ्रान्त उच्च परिवारमें २ सितम्बर सन् १८३८ ई॰ में आविर्भूत हुए थे। इनका बचपनका नाम श्रीकेदारनाथ दत्त था। ये बड़े ही मेधावी एवं प्रतिभासम्पन्न छात्र रहे। गृहस्थ जीवनमें अँग्रेजी राजत्वकालमें शासन एवं विचार-विभागके एक विशिष्ट उच्चपदस्थ गजटेड आफिसर थे। उसी समय इन्होंने उपनिषद्, श्रीब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत, श्रीगीता एवं गोस्वामी-ग्रन्थोंकी टीका, व्याख्या, अनुवाद, भक्ति-ग्रन्थोंका प्रणयन, साप्ताहिक-मासिक पारमार्थिक पत्रिकाओंका प्रकाशन,

श्रीनामहट्टकी स्थापनाकर गाँव-गाँव, नगर-नगरमें हरिनामसङ्कीर्त्तन और हरिकथाका प्रचार, लुप्ततीर्थोंका उद्धार आदि श्रीगौरसुन्दरकी मनोभीष्ट सेवामें आत्मोत्सर्ग कर दिया। अन्तमें विपुल-वैभव, स्त्री-पुत्र-परिवार-घरबार सबका परित्यागकर श्रीधाम नवद्वीपके अन्तर्गत भगवती भागीरथीके तटपर अवस्थित श्रीगोद्रुम काननके श्रीस्वानन्द-सुखद-कुञ्जमें अकिञ्चन रूपसे स्थायी वासकर रागानुगा भजन परिपाटीका आदर्श स्थापन किया। यदि ये जगत्में आविर्भूत न होते, तो श्रीचैतन्य महाप्रभुका आविर्भाव स्थान एवं उनकी लीलास्थलियाँ तथा उनकी शिक्षाएँ आज विलुप्त हो गयी होतीं। आज विश्वके कोने-कोनेमें जो हरिसङ्कीर्त्तनकी धूम मच रही है तथा श्रीगौर-कृष्ण भक्तिकी उत्ताल तरङ्गें विश्वको आप्लावित कर रही हैं, हजारों श्वेतकाय पाश्चात्य शिक्षित युवक-युवतियाँ भी भक्तिरसका पानकर आत्मविभोर होकर नृत्य कर रहे हैं—उस भक्तिधाराके पुनः प्रवर्तक ये श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ही हैं।

इन्होंने संस्कृत, बँगला, हिन्दी, अँग्रेजी, उर्दू और उड़िया आदि विभिन्न भाषाओंमें लगभग एक सौ ग्रन्थोंकी रचना की है। उनमेंसे कतिपय ग्रन्थोंके नाम हैं—ब्रह्मसूत्र, गीता, कुछ उपनिषदों, श्रीमद्भागवत, श्रीचैतन्य चरितामृत आदि प्राचीन प्रामणिक ग्रन्थोंके भाष्य, जैवधर्म, श्रीचैतन्यशिक्षामृत, श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा, दत्तकौस्तुभ, श्रीकृष्ण-संहिता, भक्ति-तत्त्व-विवेक, भजन-रहस्य, दशमूल-शिक्षा, शरणागति, गीतावली, गीतमाला, कल्याणकल्पतरु, हरिनाम-चिन्तामणि, प्रेम-प्रदीप, Shri Chaitanya Mahaprabhu; His life and precepts इत्यादि। इनका तिरोधान २३ जून, सन् १९१४ ई॰ में हुआ था।

अनुवृत्ति लेखक
श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद'

अनुवृत्ति लेखक श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' का आविर्भाव ६ फरवरी, शुक्रवार, माघी कृष्णपञ्चमी, सन्

१८७४ ई॰ में श्रीजगन्नाथपुरीमें हुआ था। उपरोक्त प्रसिद्ध श्रीगौर-परिकर श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ही इनके पिता एवं शिक्षागुरु हैं। इनके बचपनका नाम श्रीविमलाप्रसाद था। ये बाल्यकालसे ही बड़े मेधावी, अलौकिक प्रतिभासम्पन्न एवं धर्मप्राण थे। १५ वर्षकी आयुमें ही सर्वविद्या पारङ्गत होनेके कारण महाभागवत गुरुवर्गने उन्हें 'श्रीसिद्धान्त सरस्वती' की उपाधिसे भूषित किया था। १९१८ ई॰ में त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहणकर 'परिव्राजकाचार्य श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती' के नामसे परिचित हुए। इनके दीक्षागुरु परम पूजनीय श्रीमद् गौरकिशोरदास बाबाजी महाराज थे। इन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके आविर्भाव स्थल श्रीधाम मायापुरमें मूल-मठ श्रीचैतन्य-मठकी स्थापनाकर बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, बम्बई, दिल्ली और उत्तर-प्रदेश आदि सारे भारतमें तथा पाश्चात्य एवं पूर्वीय देशोंमें लगभग चौंसठ मठों (भक्ति-प्रचार केन्द्रों) की स्थापना की है तथा शिक्षित-सम्भ्रान्त एवं योग्य नवयुवकोंको प्रेममयी श्रीगौर-वाणीका श्रवण कराकर अपने मर्मस्पर्शी उपदेशों और आदर्श भक्तिमय जीवन-चरित्रसे आकर्षितकर, उन्हें त्रिदण्ड-संन्यास प्रदानकर, उन्हें देश-विदेशोंमें भेजकर, विविध भाषाओंमें पारमार्थिक पत्रिकाओंका प्रकाशन करवाकर, दैव-वर्णाश्रमकी स्थापनाकर एवं स्वयं भारतमें सर्वत्र भ्रमणकर विपुल उत्साहसे शुद्धाभक्तिका प्रचार-प्रसार किया और करवाया है। इन्होंने स्वरचित भक्ति-ग्रन्थों और सामयिक धार्मिक पत्रिकाओंके अतिरिक्त उपनिषद्, पुराण, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत, श्रीगीता, गोस्वामी-ग्रन्थों तथा चारों सम्प्रदायोंके आचार्योंके प्रामाणिक ग्रन्थोंके प्रकाशनसे श्रीगौड़ीय भक्ति-साहित्यके विपुल भण्डारको और भी अधिक समृद्ध किया है। जगत् इन महापुरुषोंका चिर-ऋणी है और रहेगा।

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायैक-संरक्षक, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति तथा समितिके अन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता आचार्य

मदीय परमाराध्य श्रीगुरुदेव परमहंसकुल-चूड़ामणि **ॐविष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीने** स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके बहुत-से ग्रन्थोंको पुनः प्रकाशित किया है। उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि इन बँगला भाषाके भक्ति-ग्रन्थोंका हिन्दी-संस्करण भी प्रकाशित होना चाहिये, जिससे हिन्दी भाषी जनसाधारणमें भी शुद्धाभक्तिका प्रचार-प्रसार हो। उनकी विशेष कृपा और प्रेरणासे 'जैव-धर्म', 'श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा', 'भक्ति-तत्त्व-विवेक', 'वैष्णव-सिद्धान्त-माला', 'शिक्षाष्टक' आदि ग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। आज उन्हींकी कृपासे यह 'श्रीउपदेशामृत' ग्रन्थ भी पाठकोंके कर-कमलोंमें उपस्थित है।

अन्तमें मैं यह उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ कि श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्त्तमान सभापति एवं आचार्य मेरे सतीर्थवर **परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराजजीके** उत्साह-दान, उनकी उदारता एवं स्नेहपूर्ण सहानुभूतिसे ही श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिका यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो रहा है। हम इनके आभारी हैं। ये अस्मदीय परमाराध्य श्रीश्रीगुरुदेवके कर-कमलोंमें इस ग्रन्थको समर्पितकर उनका प्रीति-विधान करें—यही उनके श्रीचरणोंमें प्रार्थना है। ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने और प्रूफ-संशोधन आदि विविध सेवा-कार्योंमें त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त पद्मनाभ महाराज, श्रीमान् नन्दनन्दन ब्रह्मचारी, श्रीमान् शुभानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान् प्रेमानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान् रघुनाथ ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी आदिकी सेवा-प्रचेष्टा विशेष उल्लेख योग्य है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्तिपिपासु श्रद्धालु जन इस ग्रन्थका पाठकर श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रेमधर्ममें अधिकार प्राप्त करेंगे तथा आदरणीय भक्तजन परमानन्दित होंगे। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-राधाविनोद-विहारीजी हमारे प्रति प्रचुर कृपाशीर्वाद करें, उनके श्रीचरणकमलोंमें यही सकातर प्रार्थना है—

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः।
श्रीमद्‌रूपपदाम्भोज धूलिः स्यां जन्मजन्मनि॥

श्रीअक्षय-तृतीया तिथि
श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति प्रतिष्ठा दिवस
४९८ गौराब्द
१९०६ भारतीयाब्द

वैष्णवदासानुदास
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ० प्र०)

सम्पादकीय वक्तव्य

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग और श्रीश्रीराधाविनोदविहारीजीकी कृपासे उपदेशामृत ग्रन्थका यह चतुर्थ संस्करण पाठकोंके दृष्टिगोचर हो रहा है। अल्प समयमें ही तृतीय संस्करणका समाप्त होना, श्रीरूपगोस्वामी द्वारा रचित इस ग्रन्थकी महिमाका प्रदर्शन करता है। इस ग्रन्थके परिशिष्ट भागके रूपमें श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा रचित प्रबन्धोंका भी योग किया गया है, जो सर्वप्रथम श्रीसज्जनतोषणी पत्रिकामें प्रकाशित हुए थे और जिनका अनुवाद श्रीभागवत पत्रिकामें राष्ट्रभाषामें भी प्रकाशित हो चुका है। इस परिशिष्ट भागके कारण ग्रन्थकी उपयोगिताका अत्यधिक वर्द्धन हुआ है।

इस ग्रन्थके चतुर्थ संस्करणके प्रकाशनमें श्रीमान् उत्तमकृष्ण ब्रह्मचारी तथा बेटी शान्ति दासी आदिकी सेवा–प्रचेष्टा अत्यन्त सराहनीय है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपाशीर्वाद वर्षण करें, यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है।

श्रीहरि–गुरु–वैष्णव–कृपालेश प्रार्थी
दीन–हीन त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीलरूपगोस्वामिप्रभुकृतम्

श्रीउपदेशामृत

भक्तिके प्रतिकूल त्यज्य छः वेग

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥१॥

अन्वय—यः (जो) धीरः (भोग, मोक्ष और सिद्धि आदिकी कामनाओंसे रहित बुद्धिमान व्यक्ति) वाचोवेगं (अपनी वाणीके वेगको) मनसः वेगं (मनके वेगको) क्रोधवेगं (क्रोधके वेगको) जिह्वावेगं (जिह्वाके वेगको) उदरवेगं (उदरके वेगको) एवं उपस्थ वेगं (जननेन्द्रियके वेगको) एतान् वेगान् (इन छः वेगोंको) विषहेत (सहन करनेमें समर्थ हो जाता है) सः (वह) इमां (इस) सर्वां पृथिवीं (समस्त पृथ्वीका) शिष्यात् (शासन कर सकता है) ॥१॥

जो धीर पुरुष अपनी वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, जिह्वाके वेगको, उदरके वेगको एवं जननेन्द्रियके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है; वह समस्त पृथ्वीका शासन कर सकता है अर्थात् ऐसे जितेन्द्रिय व्यक्तिके सभी जन शिष्य हो जाते हैं।

उपदेश–प्रकाशिका टीका
(श्रीमद् राधारमणदास गोस्वामिना विरचितम्)

श्रीराधारमणो जयति। श्रीचैतन्यं प्रपद्येऽहं सावधूतं सभक्तकम्। साद्वैतं विश्वशक्तीनां निधानीकृतरूपकम्॥ श्रीकृष्णराधाचरणाब्जसेवने

सदोद्यतं तद्विधिपाविताखिलम्। श्रीरूपगोस्वामिनमादरेण तं शृङ्गार-सर्वस्वमथोऽहमाश्रये॥ श्रीमद्गोपालभट्टकं तं दीनानुग्रहकातरम्। नमामि कृष्णचैतन्यं भक्त्या तारितभूतलम्॥ गोपीनाथञ्च तच्छिष्यं राधारमण-सेवकम्। प्रपद्येऽहं मुदा गौरभक्त्यानेकस्य पालकम्॥ यो हि जीवोपदेशस्तु श्रीमद्रूपप्रकाशितः। साधकानामुपकृतौ तद्व्याख्यारभ्यते मया॥ श्रीमज्जीवनलालस्य पौत्रो भृत्योऽपि कश्चन॥ तमेव स्वगुरूं नत्वा व्याख्यामारभ्यते मिताम्॥ तत्र प्रथमतः क्रोधामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्। कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्त्ति-सम्भावना भवेदिति। भागवत-कारिकाप्रतिपन्न-कृष्णस्फूर्त्ति-प्रतिबन्धकवाग्वेगादि नियमान् शिक्षयति—'वाचः' इति। सर्वां पृथ्वीं शिष्यादिति वागादिवेग-सहनोपयोगेन संवृद्धया भक्त्या सर्वपावनत्वात्। तद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनातीतिवत् सर्वोऽपि जनस्तस्य शिष्य एवेत्यर्थः। तेन च तत्तद्वेगसहनस्य भक्ति-प्रवेशोपयोगित्वमेव न तु साधनत्वम्। तस्याः स्वप्रकाशत्वाभ्युपगमादेवेति भावः ॥१ ॥

श्रीउपदेश-प्रकाशिका टीकाका भावार्थ
भावार्थ लेखकका मङ्गलाचरण

नमः ॐ विष्णुपादाय आचार्यसिंहरूपिणे।
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञानकेशव इति नामिने॥

अतिमर्त्यचरित्राय स्वाश्रितानाञ्चपालिने।
जीवदुःखे सदार्त्ताय श्रीनामप्रेमदायिने॥

मैं सर्वप्रथम अपने परमाराध्य श्रीगुरुदेव नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी, 'अनुवृत्ति' के लेखक परम गुरुदेव श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद', 'पीयूषवर्षिणी-वृत्ति' के लेखक परात्पर गुरुदेव श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर, 'उपदेश-प्रकाशिका-टीका' टीकाकार श्रीश्रीराधारमणजीके सेवक श्रीराधारमणदास, 'उपदेशामृत' के रचयिता शृङ्गाररस-सर्वस्व श्रीरूप गोस्वामी और उनके आराध्य राधाभाव-द्युति-सुवलित

श्रीचैतन्य महाप्रभुको बारम्बार प्रणामकर 'श्रीउपदेशामृत-प्रकाशिका-टीका' का भावार्थ लिख रहा हूँ।

टीकाका भावार्थ

श्रीराधारमणजीकी जय हो, जय हो। श्रीबलदेवाभिन्न अवधूत श्रीनित्यानन्द प्रभु, महाविष्णुके अवतार श्रीअद्वैताचार्य, श्रीगदाधर आदि शक्ति-वर्ग और श्रीवास आदि परिकरोंके सहित श्रीचैतन्य महाप्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ—उनका आश्रय ग्रहण करता हूँ, जो अखिल विश्वकी निखिल शक्तियोंके मूलाधार हैं। पुनः मैं उन श्रीरूप गोस्वामीजीकी अतिशय आदरपूर्वक वन्दना करता हूँ, जिनका शृङ्गाररस ही सर्वस्व है अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्णके उन्नतोज्ज्वल प्रेम-रस-स्वरूप शृङ्गाररसका वर्णन ही जिनके जीवनका सर्वस्व है, जो श्रीश्रीराधागोविन्दजीके श्रीचरणकमलोंकी सेवामें ही सदा-सर्वदा निमग्न रहते हैं तथा उसी प्रेमकी प्राप्तिके लिए साधनरूप विधिकी शिक्षा प्रदानकर जिन्होंने समस्त जगत्के जीवोंको पवित्र किया है। तदनन्तर, भगवत्-विमुख दीन-हीन जीवोंपर अतिशय अनुग्रह करनेवाले श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीको प्रणामकर कलियुग पावनावतारी, श्रीहरिनाम और भगवत्-प्रेम प्रदानकर भूतलवासी जीवोंके उद्धारकारी करुणावरुणालय श्रीचैतन्य महाप्रभुको पुनः प्रणाम करता हूँ। तत्पश्चात श्रीगौरभक्ति प्रदानकर अगणित जीवोंका कल्याण करनेवाले, श्रीगोपालभट्टके शिष्य और श्रीराधारमणजीके सेवक श्रीगोपीनाथजीकी वन्दना करता हूँ। अब श्रीजीवनलालजीका पौत्र एवं सेवक, मैं अपने उन्हीं श्रीगुरुदेव (श्रीजीवनलालजी) को प्रणामकर साधकोंके उपकारके लिए श्रीरूप गोस्वामी द्वारा रचित 'श्रीउपदेशामृत' के श्लोकोंकी संक्षेपमें व्याख्या आरम्भ कर रहा हूँ।

श्रीरूपगोस्वामीने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें अन्याभिलाषिताशून्य, जीव और ईश्वरकी एकता अनुसन्धानात्मक ज्ञान और भगवत्-प्रीति-विहीन कर्म आदिसे अनावृत, अनुकूल भावसे श्रीकृष्णके अनुशीलनको

उत्तमा भक्तिका लक्षण बतलाया है। ऐसी उत्तमाभक्तिका प्रादुर्भाव भी काम-क्रोधादि दोषोंसे भरपूर चित्तवाले जनोंमें कैसे हो सकता है? अतः श्रीपद्मपुराणमें कहा गया है—

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्।
कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्त्तिसम्भावना भवेत्॥

तात्पर्य यह है कि काम-क्रोध-लोभ आदि दोष मानवके मनमें उत्पन्न होकर, उपर्युक्त कारिका (मूल-श्लोक) में कहे गये वाणी आदि छः वेगोंके द्वारा मनको असत्-विषयोंमें आविष्ट कर देते हैं। ऐसे दूषित हृदयमें शुद्धभक्तिका अनुशीलन कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ भक्ति-प्रतिबन्धक इन वेगोंको दमन करनेका उपदेश दिया गया है। जो साधक इन वेगोंको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वह समस्त पृथ्वीका शासन कर सकता है। तात्पर्य यह है कि उक्त वेगोंका दमन करनेवाले जितेन्द्रिय साधक ऐकान्तिक, शुद्ध एवं उत्तमाभक्तिके द्वारा जगत्के सभी जीवोंको पवित्र कर देते हैं, सब लोग ऐसे महात्माके शिष्य हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत (११/१४/२४) में कहा गया है—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च, मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

अर्थात् जिसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर बहता रहता है, एक क्षणके लिए भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नाचने लगता है, प्यारे उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपनेको, बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उक्त छः वेगोंको सहन करनेसे भक्तिराज्यमें प्रवेश करनेका अधिकारमात्र प्राप्त होता है। यह भक्तिके साधनका साक्षात् अङ्ग नहीं, बल्कि भक्तिराज्यमें

प्रवेश करनेके लिए द्वारस्वरूप है। भक्ति तो भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी स्वप्रकाशवृत्ति होनेके कारण उसका प्रादुर्भाव होनेपर ये वेगसमूह स्वतः ही शान्त हो जाते हैं॥१॥

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति
(ठाकुर श्रीलभक्तिविनोद कृत)

श्रीश्रीगोद्रुमचन्द्राय नमः

यत्कृपासागरोद्भूतमुपदेशामृतं भुवि।
श्रीरूपेण समानीतं गौरचन्द्रं भजामि तम्॥

नत्वा ग्रन्थप्रणेतारं टीकाकारं प्रणम्य च।
मया विरच्यते वृत्तिः 'पीयूष–परिवेशनी'॥

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/१/९)

उपरोक्त कारिका–सम्मत अनुकूल–ग्रहणका सङ्कल्प एवं प्रतिकूलका त्यागकर भगवत्–अनुशीलन ही भजनपरायण व्यक्तियोंके लिए नितान्त प्रयोजनीय है। आनुकूल्यका सङ्कल्प तथा प्रातिकूल्यका वर्जन—ये शुद्धाभक्तिके साक्षात् अङ्ग नहीं हैं, बल्कि ये दोनों भक्तिमें अधिकार प्रदान करनेवाली शरणागति–लक्षण श्रद्धाके अङ्ग हैं। जैसे—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेप–कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

इस श्लोकमें प्रतिकूल–वर्जन करनेका उपदेश है। वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, जिह्वाका वेग, उदरका वेग और उपस्थका वेग—इन छः वेगोंको जो व्यक्ति सहनेमें समर्थ होता है, वह समस्त पृथ्वीका शासन कर सकता है।

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्।
कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्त्तिसम्भावना भवेत्॥
(श्रीपद्मपुराण)

इस श्लोकका तात्पर्य यह है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरता इत्यादि उत्पात मनमें सर्वदा उदित होकर—(१) वाणीके वेग द्वारा अर्थात् भूतोद्वेगकारी वाक्य प्रयोग द्वारा, (२) मानस वेग अर्थात् नाना प्रकारके मनोरथों द्वारा, (३) क्रोधवेग अर्थात् कटुवाणी आदिके प्रयोग द्वारा, (४) जिह्वावेग अर्थात् मीठा, खट्टा, कड़ुवा, तीक्ष्ण, नमकीन और कषैला—इन छः प्रकारके रसोंकी लालसा द्वारा, (५) उदर वेग अर्थात् अत्यन्त अधिक भोजनकी चेष्टा द्वारा और (६) उपस्थ वेग अर्थात् स्त्री-पुरुष सहवासकी लालसा द्वारा मनको असत् विषयोंकी ओर खींचते हैं। इसलिए शुद्धभक्तिका अनुशीलन नहीं हो पाता। भजन-प्रयासी व्यक्तिके चित्तको भक्ति-अनुकूल करनेके लिए श्रीमद् रूप गोस्वामीजीने इस श्लोककी सर्वप्रथम अवतारणा की है। उक्त षड्वर्गकी निवृत्ति-चेष्टा ही भक्ति-साधन है—ऐसी बात नहीं है, बल्कि यह भक्ति मन्दिरमें प्रवेश पानेके लिए योग्यता उपलब्धिका सोपान स्वरूपमात्र है। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गमें षड्वर्ग निवृत्तिके उपदेश हैं। परन्तु वे उपदेशसमूह शुद्धभक्तोंके लिए पालनीय नहीं हैं। शास्त्रोंमें कृष्णनाम-रूप-गुण-लीला आदिके श्रवण, कीर्त्तन और अनुस्मरणको ही साक्षात् भक्ति कहा गया है।

भक्तिपथमें प्रवेश करनेवाले पथिककी अपरिपक्व अवस्थामें उक्त षड्वेग नाना प्रकारकी बाधाएँ डालते हैं। उस समय भक्त अनन्य शरणागतिका आश्रय लेकर दस प्रकारके नामापराधोंसे बचकर हरिनामकीर्त्तन आदिके प्रभावसे इन विघ्न-बाधाओंको भी दूर करनेमें समर्थ होता है। इस विषयमें निर्मल साधुसङ्गकी विशेष भूमिका है—

श्रुत्वापि नाम-माहात्म्यं यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहं ममादिपरमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥
(श्रीपद्मपुराण)

भक्तजन युक्त-वैराग्यपरायण होते हैं अर्थात् शुष्क वैराग्यसे दूर रहते हैं। इसलिए विषय संस्पर्शादि-परित्यागकी विधि उन लोगोंके लिए नहीं है। मनका वेग—असत्तृष्णासे रहित होनेपर नेत्रवेग, प्राणवेग, श्रवण-वेग आदि दूसरे-दूसरे समस्त प्रकारके वेग शान्त हो जाते हैं।

इसलिए षड्वेगोंपर विजय पा लेनेवाला व्यक्ति सम्पूर्ण पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर सकता है। कथित वेगोंको सहन करनेका उपदेश केवल गृहीभक्तोंके लिए ही है; क्योंकि गृहत्यागीके लिए सम्पूर्ण वेगादि वर्जन गृहत्यागसे पूर्व ही सिद्ध हुए होते हैं।

अनुवृत्ति
(श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' कृत)

परम करुणामय पतित-पावन श्रीशचीनन्दन गौरहरिने कलिहत कृष्ण-विमुख जीवोंके प्रति अशेष कृपा करके 'श्रीशिक्षाष्टक' का प्रकाश किया है। उन्होंने उसमें जीवोंके सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन विषयक सारी शिक्षाओंको गागरमें सागरकी भाँति सूत्र रूपमें भर दिया है। उनके परम प्रिय श्रीरूप गोस्वामीने जगन्नाथपुरी और प्रयागमें उनके श्रीमुखारविन्दसे भक्तितत्त्वके अत्यन्त गूढ़ रहस्योंका श्रवण किया। केवल श्रवण ही नहीं, अपितु सर्वशक्तिमान प्रेममूर्त्ति श्रीचैतन्य महाप्रभुने उनके हृदयमें शक्तिका सञ्चारकर उन दुरूह भक्तितत्त्वोंकी उपलब्धि भी करायी। श्रीरूप गोस्वामीने उन शिक्षाओं-उपलब्धियोंको श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, ललितमाधव, विदग्धमाधव, स्तवमाला आदि ग्रन्थोंमें सरल, सहज और बोधगम्य संस्कृत भाषामें व्यक्त किया है। ये ग्रन्थरत्न कल्याणकी खानस्वरूप हैं, जिनमें महा-महा

मूल्यवान प्रेमरत्न भरे पड़े हैं। 'श्रीउपदेशामृत' उन अमूल्य प्रेमरत्नोंमेंसे एक है। यह गौरभक्तोंका कण्ठहार है। श्रीरूप गोस्वामीने इसमें श्रीचैतन्य महाप्रभुकी सारी शिक्षाओंका सार-सङ्कलनकर इसे सच्चे साधकोंको उपहार रूपमें प्रदान किया है।

श्रीउपदेशामृतमें दो प्रकारके उपदेश दिये गये हैं। पहला—भक्तिके प्रतिकूल विषयोंका त्याग और दूसरा—भक्तिके अनुकूल विषयोंका अवलम्बन। जब तक साधक इन दो प्रकारकी शिक्षाओंका अपने जीवनमें आचरण नहीं करता, तब तक उसके हृदयमें प्रेमाभक्तिकी तो बात ही अलग है, भावभक्तिका भी उदय होना असम्भव है। आधुनिक नाना प्रकारके काल्पनिक, ऊपरसे धर्मका चोला पहने हुए भक्ति विरोधी, अवैदिक, सुविधावादी, सहजिया और मायावादी आदि असत् मत-मतान्तरवादी इस उपदेशामृतको साक्षात् यम मानकर डरते हैं। परन्तु जो श्रद्धालुजन इसका प्रीतिपूर्वक पठन-पाठन करते हैं, अपने जीवनमें आचरण करते हैं, वे भक्ति-विषयमें सर्वप्रकारसे निःसंशय होकर सहज ही पहले भावभक्ति और अन्तमें दुर्लभ प्रेमभक्ति प्राप्त करते हैं। इसलिए श्रीरूपानुग गुरुजनोंकी श्रीचरणरज अपने मस्तकपर धारणकर जीवमात्रको श्रीरूपगोस्वामी द्वारा आविष्कृत तथा श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराज और श्रीभक्तिविनोद ठाकुर जैसे श्रीरूपानुग वैष्णवाचार्यों द्वारा आचरित एवं प्रचारित भक्तिरसामृतसिन्धुमें अवगाहन करानेके लिए यह श्रीवार्षभानवीदयितदास (श्रीमती वृषभानुनन्दिनीके प्राणनाथका दास श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती) 'श्रीउपदेशामृत' की 'अनुवृत्ति' नामक भाष्य प्रकाशित कर रहा है।

जड़ीय विषय भोगोंमें आसक्त रहनेवाले संसारी जीवोंमें तीन प्रकारके वेग दिखलायी पड़ते हैं—वाणीका वेग, मनका वेग तथा शरीरका वेग। इन तीनों वेगोंके प्रबल स्रोतमें पड़नेपर उनका उद्धार होना बड़ा ही कठिन है। ऐसे जीव जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़कर आत्म-कल्याणसे वञ्चित हो जाते हैं। किन्तु इन वेगोंको

सहन करनेवाले जितेन्द्रिय व्यक्ति विषय भोगोंके वशीभूत नहीं होते। वे सम्पूर्ण जगत्‌को पराभूत करनेमें समर्थ होते हैं।

वाक्य-वेगका तात्पर्य भक्ति-विरोधी निर्विशेषवादियोंकी कल्पनाओं, कर्मकाण्डमें फँसे हुए कर्मकाण्डियोंकी कर्मफलसम्बन्धी शास्त्रीय-युक्तियों तथा श्रीकृष्णसेवापर वचनोंके अतिरिक्त अन्यान्य सुखभोगकी कामनासम्बन्धी बातोंसे है। भगवत्-सेवोपयोगी वचनोंको वाक्-वेग नहीं समझना चाहिये। बल्कि उन्हें वाक्-वेग सहनेका फल समझना चाहिये। कभी-कभी मौनव्रत धारण करके भी भाव-भङ्गिमा द्वारा या लिखकर जो भोगादिकी कामनाएँ प्रकट की जाती हैं, वह भी वाग्वेगके ही अन्तर्गत हैं।

मनका वेग दो प्रकारका होता है—अविरोध प्रीति और विरोधयुक्त क्रोध। मायावादीके विश्वासके प्रति प्रीति, कर्मोंके विश्वासके प्रति आदर और कृष्णसेवाके अतिरिक्त दूसरी अभिलाषाओं वाले व्यक्तियोंके विचारोंके प्रति विश्वास—यह तीन प्रकारकी अविरोध प्रीति है। ज्ञानी, कर्मी और अन्याभिलाषीकी चेष्टाओंको देखकर निरपेक्ष रहना ही मनका अव्यक्त अविरोध प्रीतिवेग है। कृष्णेतर अभिलाषाओंकी पूर्त्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर, कर्मोंका वाञ्छित फल नहीं मिलनेपर तथा चेष्टा करनेपर भी मुक्ति नहीं मिलनेपर क्रोध होता है। कृष्णकी लीलाओंका चिन्तन करना मानसवेग नहीं है, उससे तीन प्रकारके मानसवेग शान्त हो जाते हैं।

शरीरके वेग भी तीन प्रकारके होते हैं—जिह्वावेग, उदरवेग और उपस्थवेग। षड्‌रसके अन्तर्गत किसी भी रसका आस्वादन करनेकी लालसासे उत्तेजित होकर पशुओंके माँस, मछली, अण्डे, मद्य, अत्यधिक घी, दूध, रबड़ी, मलाई इत्यादि भोजनकी लालसाको जिह्वावेग कहते हैं। अत्यधिक मिर्च, खटाई आदिको भी साधुजन ग्रहण नहीं करते। हर्र, सुपारी, पान, पानके मसाले, धूम्रपान, गाँजा, भाँग, अफीम आदि मादक द्रव्योंका तथा प्याज

और लहसुन आदिका सेवन भी जिह्वावेगके अन्तर्गत है। भक्तिसाधक इन मादक द्रव्योंका सेवन कदापि नहीं करेंगे। भगवान् और भक्तोंके उच्छिष्टरूप महाप्रसादका सेवनकर जिह्वावेगसे सावधानीपूर्वक बचना चाहिये। महाप्रसाद परम सुस्वादु होनेपर भी जिह्वावेगके अन्तर्गत नहीं है; श्रद्धापूर्वक उनका सेवन करनेसे जिह्वावेग दूर हो जाता है। परन्तु स्वयं भोगकी लालसासे प्रसाद पानेका बहाना बनाकर छल-बल और कौशलसे उनका रसास्वादन करना भी जिह्वावेग ही है। धनी व्यक्तियोंके घरपर देवताओंके उद्देश्यसे अर्पित बहुमूल्य रबड़ी, मलाई आदि सुस्वादु भोज्य पदार्थोंका सेवन करना भी निष्किञ्चन वैष्णवोंके लिए हानिकारक होता है। जिह्वा-लालसाकी तृप्तिके लिए नाना प्रकारके बुरे आचरणों और कुसङ्गमें फँसनेकी सम्भावना होती है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें कहा गया है—"जिह्वार लालसे जेइ इति उति धाय। शिश्नोदर-परायण कृष्ण नाहि पाय।", "भाल ना खाइबे आर भाल ना परिबे।" अर्थात् जिह्वाके लोभसे जो लोग इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, उन कामाचारी और पेटू व्यक्तियोंको कभी भी कृष्णकी प्राप्ति नहीं होती। सुन्दर और मूल्यवान वस्त्रोंका व्यवहार नहीं करना चाहिये तथा सुन्दर स्वादिष्ट भोजन भी नहीं करना चाहिये। साधकोंको सावधानीपूर्वक इनका वर्जन करना चाहिये। पेटू व्यक्ति अधिकांश रूपमें नाना प्रकारके रोगोंसे पीड़ित होते हैं। अत्यधिक भोजन करनेसे नाना प्रकारकी असुविधाएँ उपस्थित होती हैं। अधिक आहार करनेवाले व्यक्ति अधिकतर उपस्थवेगके दास अर्थात् चरित्रहीन हो पड़ते हैं। यथोचित रूपमें भगवत्-प्रसाद सेवन करनेसे, नियमानुसार एकादशी पालन करनेसे तथा कृष्णसेवासे उदरवेग शान्त हो जाता है। उपस्थवेग दो प्रकारका होता है—वैध और अवैध। वयस्क व्यक्ति शास्त्रीय-विधिसे विवाहकर सन्तानोत्पत्तिके लिए संयत होकर निशिचर्याके पालन द्वारा गृहस्थ धर्मकी रक्षा करते हुए अपने उपस्थवेगको शान्त करेंगे। यह वैध उपस्थवेगके अन्तर्गत है। अवैध उपस्थवेग अनेक प्रकारके हैं। जैसे—शास्त्रीय

समाज-विधिका उल्लंघनकर परस्त्री-ग्रहण, अष्ट प्रकारसे इन्द्रियसुखकी पिपासा, कृत्रिम व्यभिचार और अवैध उपायसे इन्द्रिय-सुख-भोग आदि गृहस्थ और गृहत्यागी दोनों प्रकारके भक्तिसाधकोंको जिह्वा, उदर और उपस्थके वेगोंसे सर्वदा दूर रहना चाहिये। श्रीचैतन्यदेवके पार्षद श्रीजगदानन्द पण्डितने प्रेम-विवर्त्तमें लिखा है—

वैरागी भाई ग्राम्य कथा ना शुनिबे काने।
ग्राम्यवार्त्ता न कहिबे जबे मिलिबे आने॥

स्वप्नेओ ना कर भाई स्त्री दरशन।
गृहे स्त्री छाड़िया भाई आसियाछ वन॥

यदि चाह प्रणय राखिते गौराङ्गेर सने।
छोट हरिदासेर कथा थाके जेन मने॥

भाल ना खाइबे आर भाल ना परिबे।
हृदयेते राधाकृष्ण सर्वदा सेविबे॥

"वैरागी भाई! यदि किसीसे मिलो, तो ग्राम्य बातें कदापि न सुनो और न कहो। स्वप्नमें भी स्त्रियोंका दर्शन न करो, क्योंकि हे भाई! अपनी स्त्रीको तो घरपर छोड़कर आये हो। यदि श्रीशचीनन्दन गौरहरिके श्रीचरणोंमें प्रीति रखना चाहते हो, तो छोटे हरिदासके चरित्रका सर्वदा स्मरण रखो। यदि भगवद्भक्तिकी इच्छा है तो सुस्वादु भोज्य पदार्थोंका सेवन न करो और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र भी न पहनो। इस प्रकारसे रहकर सदा-सर्वदा श्रीश्रीराधाकृष्णकी सेवा करो।"

जो तन, मन और वचनसे पूर्वकथित छः प्रकारके वेगोंको भली-भाँति सहन करनेमें समर्थ हैं, केवल उन्हें ही 'गोस्वामी' कहते हैं। ऐसे गोस्वामीजन ही कृष्णके सेवक हैं। इसके विपरीत उक्त छः वेगोंके वशीभूत व्यक्तियोंको गोस्वामी नहीं, गोदास कहना ही उचित है।

गोदासगण मायाके दास हैं; अतएव यदि वे कृष्णभक्त बनना चाहें, तो उन्हें यथार्थ गोस्वामी जनोंका आनुगत्य करना चाहिये। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है। अवशीभूत इन्द्रियोंवाले कभी भी हरिभक्त नहीं बन सकते। श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/५/३०)

पिताजी! संसारके लोग तो पिसे हुएको पीस रहे हैं, चबाये हुए को चबा रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण वे भोगे हुए विषयोंको ही बारम्बार भोगनेके लिए संसाररूप घोर नरककी ओर जा रहे हैं। ऐसे गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि अपने-आप, किसीके सिखानेसे अथवा अपने ही जैसे लोगोंके सङ्गसे भगवान् श्रीकृष्णमें नहीं लगती॥१॥

भक्तिमें बाधक छः दोष

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति॥२॥

अन्वय—अत्याहारः (अधिक आहार या संग्रह) प्रयासः (भक्तिके प्रतिकूल चेष्टा) प्रजल्पः (अनावश्यक ग्राम्य-कथा) नियमाग्रहः (अपने अधिकारगत नियमोंका वर्जन तथा दूसरोंके अधिकारगत नियमोंका ग्रहण) जनसङ्ग (विषयी, स्त्रीसङ्गी, स्त्रीसङ्गीका सङ्ग, मायावादी, पाषण्डी आदि अभक्तोंका सङ्ग) लौल्यञ्च (बुरे मतोंको ग्रहण करनेके लिए मनकी चञ्चलता या लोभ) षड्भिः (इन छः दोषोंके द्वारा) भक्तिर्विनश्यति (भक्तिका विनाश होता है)॥२॥

अधिक आहार या सञ्चय, भक्ति-प्रतिकूल चेष्टा, वृथा-आलाप, नियमाग्रह, असत्सङ्ग एवं लौल्य अर्थात् बुरे मतोंको ग्रहण करनेके लिए चित्तकी चञ्चलता—इन छः प्रकारके दोषोंसे भक्ति विनष्ट हो जाती है॥२॥

उपदेश-प्रकाशिका टीका

इदानीं साधकचित्तस्य तादृशाभ्यासाभावात् प्राकृतत्वेन तदवस्थायामेव भक्तिविनाशकप्रसाधकान्याह—अत्याहार इति द्वयेन। प्रयासः विषयोद्य-मक्लेशः। प्रजल्पो वृथैव तत्तन्निंदादिवागाडम्बरः। नियमाग्रहः प्राकृते वैषयिकनियमे आग्रहः। यद्वा, यस्य कस्यापि भक्त्यङ्गनियमस्याग्रहणं साधकस्य रागाभावात्। विधिनापि तदग्रहे तल्लोभादित्यर्थः। जनसङ्गश्च। सङ्गश्च यः संसृतेर्हेतुः, सङ्गं न कुर्यात् प्रमदास्विति, सङ्गं न कुर्यात् शोच्येषु इत्यादिभिः सर्वत्रैव निषिद्धः। लौल्यं चाञ्चल्यं तेन व्यभिचारो लक्ष्यते। तस्यापि पुंश्चली चञ्चलत्ववत् कदापि ज्ञाने कदापि योगे कदापि भक्तौ प्रवृत्तत्वाद्विनाशहेतुत्वमिति॥२॥

टीकाका भावार्थ

भक्ति-साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें साधकोंके चित्तमें प्राकृत भावोंकी प्रबलता देखी जाती है। अतएव वे प्रथम श्लोकमें उल्लिखित वेगोंका दमन करनेमें समर्थ नहीं होते। फलस्वरूप इस दशामें साधकोंके हृदयमें बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो भक्तिके लिए अत्यन्त हानिकारक होती हैं। साधकोंके कल्याणके लिए 'अत्याहार' आदि दो श्लोकोंमें उन अनिष्टकर प्रवृत्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। अत्याहारका तात्पर्य आवश्यकतासे अधिक आहार करना अथवा विषयोंका संग्रह करना है। सांसारिक विषयोंके संग्रह करनेमें तथा भक्ति विरोधी चेष्टाओंमें लगे रहना ही 'प्रयास' है। समयका दुरुपयोग करनेवाली अनावश्यक वृथा परनिन्दा-परचर्चा करना 'प्रजल्प' कहलाता है। भगवत्सेवाकी प्राप्ति रूप उच्चतम अधिकारकी प्राप्तिके लिए चेष्टा न कर निम्नतम स्वर्गादिकी प्राप्तिके नियमोंमें आग्रह और भक्ति-पोषक नियमोंके प्रति उदासीन रहना ही 'नियमाग्रह' है। विशुद्ध भक्तोंके सङ्गको छोड़कर अन्य जनोंका सङ्ग करना ही 'जनसङ्ग' कहलाता है। श्रीमद्भागवतके कपिल-देवहूति संवादमें जनसङ्ग छोड़नेके लिए सुन्दर उपदेश है—(क) हे देव! अज्ञानवश भक्ति विमुख असत्पुरुषोंके साथ किया हुआ जो सङ्ग संसार-बन्धनका कारण होता है, वही सङ्ग सत्पुरुषों-भगवद्भक्तोंके साथ किये जानेपर वह निःसङ्गत्व अर्थात् संसारसे मुक्त कराकर भगवच्चरणोंकी प्राप्ति करा देता है। (श्रीमद्भा॰ ३/२३/५५) (ख) जो व्यक्ति भक्तियोगके चरम फलरूप कृष्णप्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा रखते हैं, उन्हें स्त्रियोंका अवैध-सङ्ग कदापि नहीं करना चाहिये; क्योंकि यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले मनीषियोंका कहना है कि संसारसे मुक्त होकर भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्तिके इच्छुक व्यक्तियोंके लिए स्त्रियोंका अवैध सङ्ग नरकका खुला द्वार है। (श्रीमद्भा॰ ३/३१/३९) (ग) अत्यन्त शोचनीय, स्त्रियोंके क्रीड़ामृग (खिलौने), अशान्त, मूढ़

और देहात्मदर्शी असत्पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये (श्रीमद्भा० ३/३१/३४), इस प्रकार जनसङ्गका दोष दिखलाकर उसका निषेध किया गया है। तुच्छ विषयोंमें चित्तकी चञ्चलता और अनेक मतवादियोंके सङ्गसे अपने मनमें अस्थिरता ही 'लौल्य' का तात्पर्य है। कुलटा स्त्रियोंकी भाँति कभी कर्ममार्गमें, कभी योगमार्गमें, कभी ज्ञानमार्गमें और कभी भक्तिमार्गमें भटकते रहनेपर भक्तिवृत्तिका विनाश हो जाता है॥२॥

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति

अत्याहार (किसी भी इन्द्रिय द्वारा उसके विषयको अधिक रूपमें ग्रहण करना), प्रयास, प्रजल्प, नियमाग्रह, जनसङ्ग और लौल्य—ये छः भक्तिविरोधी दोष हैं। अत्याहार—अर्थात् अधिक आहार। किसी भी विषयका अधिक सेवन अथवा आवश्यकतासे अधिक संग्रहकी चेष्टा—यह सब अत्याहार है। गृहत्यागी भक्तोंके लिए सञ्चय करना निषिद्ध है। गृही वैष्णवोंके लिए निर्वाहोपयोगी संग्रहकी आवश्यकता है; परन्तु आवश्यकतासे अधिक संग्रह अत्याहार है। भजन-पिपासु लोगोंके लिए विषयी लोगोंकी भाँति संग्रह करना उचित नहीं है। (२) भक्तिविरोधी चेष्टा अथवा विषयोंको भोगनेकी चेष्टा ही प्रयासका तात्पर्य है। (३) प्रजल्प—समयको अनर्थक ग्राम्य बातोंमें व्यतीत करना ही प्रजल्प कहलाता है। (४) नियमाग्रह—क्रमशः उच्च अधिकारकी प्राप्तिके समयमें निम्नाधिकारगत नियमोंके प्रति आग्रह एवं भक्तिपोषक नियमोंके पालनमें अग्रह अर्थात् निष्ठाका अभाव ही नियमाग्रह कहलाता है। (५) जनसङ्ग—भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त अन्य लोगोंका सङ्ग जनसङ्ग कहलाता है। (६) लौल्य—नाना प्रकारके असत् मतों या अस्थिर सिद्धान्तोंको ग्रहण करनेका लोभ या चञ्चलता और तुच्छ विषयोंमें आसक्त होना ही लौल्य वृत्ति है। प्रजल्प द्वारा साधु-निन्दा होती है एवं लौल्य द्वारा दूसरे-दूसरे अस्थिर

सिद्धान्तोंकी ओर रुचि उत्पन्न होती है, जिससे नामापराध होता है। इसलिए सावधानीपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये॥२॥

अनुवृत्ति

ज्ञानियोंका अतिरिक्त ज्ञानसंग्रह, कर्मफलवादियोंका फल-सञ्चय और अन्याभिलाषियोंका अतिशय विषय संग्रह—अत्याहार कहलाता है। ज्ञानीका ज्ञानाभ्यास, कर्मीकी तपस्या और व्रत आदि, अन्याभिलाषीका स्त्री, पुत्र, धन सम्पत्तिके लिए परिश्रम—प्रयास कहलाता है। ज्ञानी लोगोंका वृथा शास्त्रीय तर्क-वितर्कका पाण्डित्य, कर्मियोंकी अनुष्ठानप्रियता, अन्याभिलाषियोंका इन्द्रिय-सुखकर आलाप ही प्रजल्प कहलाता है। मोक्ष-प्राप्तिके लिए ज्ञान-शास्त्रकी नियमावली ग्रहण करना ही आग्रह कहलाता है। लौकिक और पारलौकिक सुखभोगकी लालसासे प्रयोग-शास्त्रोंकी विधियोंके प्रति आसक्ति, तात्कालिक सुखकी प्राप्तिके लिए युटिलिटेरियान (सामाजिक सुविधावादी) की भाँति अपनी अवस्थानुरूप विधियोंके प्रति मर्यादा स्थापन ही नियम+आग्रह=नियमाग्रह कहलाता है। भक्ति-प्राप्तिके लिए जिन नियमोंका विधान है, उनके प्रति उदासीन रहना भी नियम+अग्रह=नियमाग्रह ही है। ऐसे लोग अपने घृणित स्वेच्छाचार और दुराचारको भी आदरणीय और उन्नत रागमार्ग बतलानेकी धृष्टता करते हैं। हरिभक्तिविलासमें ऐसे लोगोंकी वृत्तिकी निन्दा की गयी है—"श्रुति-स्मृति-पुराणादि पञ्चरात्रविधि बिना। ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव केवलम्॥"—(भ॰ र॰ सि॰ १/२/४६, ब्रह्मयामल वचन)। कल्याणकल्पतरुमें भी श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने कहा है—प्यारे मन! तुमने यह क्या किया? कच्ची उम्रमें बिना जाने समझे ही शुद्ध वैष्णवसम्प्रदायमें सङ्कीर्णताका दोष लगाकर अपनेको ठग लिया। तुमने शुद्ध-साम्प्रदायिक मान्यताओं और विचारोंको धूर्त्तोंका ढकोसला समझकर उन्हें छोड़ दिया। तुमने तिलक लगाना छोड़ दिया, गलेकी माला उतार दी,

भजनकी माला त्याग दी। सोचा कि तिलक लगानेसे क्या होता है? भजन तो मनसे होता है, मालाकी आवश्यकता ही क्या है? खान–पानसे भजनका कोई सम्बन्ध नहीं; अतः मद्य, मांस, मछली, अण्डे, चाय, पान, तम्बाकू, गाँजा, भाँग, अफीम—जो इच्छा खाने लगा; परहेजकी आवश्यकता नहीं समझी। दीक्षाको भी त्याग दे दिया। अपनेको अवतार बतलाने लगा। कुछ एजेण्टोंके माध्यमसे अपने नये मतका जोरोंसे प्रचार करने लगा। पूर्व महाजनों, भक्तिमार्गके पूर्वाचार्योंके विचारोंमें भ्रमका दोष लगाकर निन्दा करने लगा। कुछ धूर्त्त लोग तिलक माला लगाकर लोगोंको ठगते हैं, इसलिए तिलक–मालाधारी व्यक्तिमात्र ही ठग हैं—ऐसा समझकर उनके प्रति तुम्हें विरक्ति हो गयी। परन्तु प्यारे भाई मन! जरा सोचो, तुम्हें मिला क्या? स्वर्ण छोड़कर राख मिली। लोक–परलोक दोनों रसातलमें चले गये। सबको कपटी, धूर्त्त और ठग बतलाया। किन्तु तुम्हें तो भगवद्भक्ति मिली ही नहीं। अब मरनेपर क्या होगा?

मन! तुमसे कहूँ तो क्या कहूँ? केवल मुखसे 'प्रेम–प्रेम' कहनेसे क्या होता है? प्रेम दुर्लभ रत्न है। उसके लिए कठोर साधन करना पड़ता है। कीर्त्तन और प्रवचनके श्रवणके समय कपट अभ्याससे अश्रुपात, कम्प, पुलकावली और मूर्च्छा आदिका भाव दिखलाकर कनक, कामिनी और प्रतिष्ठा संग्रह कर रहे हो। परन्तु प्रेम लाभ करनेके लिए शुद्ध साधनभक्तिमें जब तुम्हारा तनिक भी अनुराग नहीं है, तब तुम्हें शुद्ध भगवत्प्रेम मिलेगा कहाँसे? पहले दस प्रकारके नामापराधोंको छोड़कर निरन्तर हरिनाम करो, शुद्ध वैष्णवसङ्गमें हरिकथा श्रवण करो, तब श्रीनामप्रभुकी कृपासे शुद्ध प्रेम स्वयं तुम्हारे हृदयमें उदित होगा। नियमित रूपसे तुमने भजन तो किया नहीं, साधुसङ्गमें सङ्कीर्त्तन भी नहीं किया, निर्जनमें मनको विषयोंसे हटाकर भगवत्स्मरण भी नहीं किया। इस प्रकार पेड़पर चढ़े बिना ही, फलको हाथसे

तोड़नेकी चेष्टामें तुमने कुफल ही पाया। निर्मल कृष्णप्रेम दुर्लभ है। दूसरोंको ठगनेसे तुम स्वयं ही ठगे जाओगे। पहले स्वयं योग्यपात्र बनो, साधन करो; फिर तुम्हारे लिए प्रेम सुलभ होगा। भाई! बाहरी लक्षणसे काम और प्रेममें कोई अन्तर दिखलायी नहीं पड़ता; फिर भी काम और प्रेम एक नहीं है। काम जंग लगे लोहेके समान है और प्रेम शुद्ध सोनेके समान है। तुमने कामको ही सोना मानकर ग्रहण किया। भला ऐसे कहीं प्रेम मिलता है।

मेरे पागल मन! तुम वृथा ही कामको प्रेम मानकर मत्त हो रहे हो। हाड़-मांसका काम आपात रमणीय है। वह सदा-सर्वदा विषयोंकी ओर दौड़ता है। किन्तु शुद्ध-प्रेम जीवका स्वरूपधर्म है। वह चिन्मय होता है। उस प्रेमके विषय तो एकमात्र श्रीहरि होते हैं, हाड़-मांसका पुतला नहीं। अभी कामके आवरणमें प्रेम सुप्तावस्थामें है। अतः कामको दूरकर प्रेमको जगानेके लिए प्रयत्न करो। सबसे पहले पूर्व-पूर्व जन्मोंकी सञ्चित सुकृति द्वारा सौभाग्यसे शुद्ध श्रद्धा होती है। तदनन्तर सत्सङ्गका सेवन करनेसे, हरिकथा श्रवण और हरिनाम-कीर्त्तन द्वारा श्रद्धाका परिपाक होनेपर क्रमशः निष्ठा, रुचि और आसक्ति उदित होती है। तत्पश्चात् आसक्तिसे भाव और उससे प्रेमका प्रादुर्भाव होता है। इस क्रमसे प्रेम उत्पन्न होता है। इस क्रमका अवलम्बन करनेसे ही प्रेमकी प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा कदापि सम्भव नहीं है। अरे दुर्जन मन! ऐसे साधन क्रमसे तुम्हें भय क्यों लगता है? केवल प्रेमका अभिनय करनेसे कुछ प्राप्त नहीं होगा। उससे केवल अनित्य विषय-भोग-सुख मिल सकता है, वह भी अन्तमें दुःखदायी ही होगा। ऐसा समझकर अपराधों और अनर्थोंको दूर रखकर शुद्धाभक्तिके साधनमें ही लगो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।

निर्विशेष ज्ञानी या मुक्तिवादीका सङ्ग, फलकामी कर्मीका सङ्ग और भोगोंमें आसक्त विषयी लोगोंका सङ्ग ही जनसङ्ग कहलाता है। भगवद्भक्तोंका सङ्ग मिलनेपर विषयी लोगोंका कुसङ्ग अपने-आप

ही दूर हो जाता है। लौकिक विषय-भोग और मोक्षकी कामनासे कभी अष्टाङ्गयोगकी ओर, कभी ध्यानकी ओर, कभी यज्ञकी ओर और कभी निर्विशेष ब्रह्मकी प्राप्तिके साधनोंकी ओर दौड़नेको 'लौल्य' कहते हैं। इस प्रकार अत्याहार, प्रयास, प्रजल्प, नियमाग्रह, जनसङ्ग और लौल्य—इन छः प्रकारके दोषोंको छोड़कर भक्तिके शुद्ध साधनमें तत्पर होना चाहिये। अन्यथा कृष्णभक्ति ही सर्वोत्तम कल्याणकारी है—ऐसा विचारनेकी शक्ति भी लुप्त हो जायेगी और भक्तिमार्गसे सदाके लिए भटक जाओगे॥२॥

भक्तिके अनुकूल छः सङ्कल्प

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्म–प्रवर्त्तनात्।
सङ्गत्यागात् सतो वृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिध्यति॥३॥

अन्वय—उत्साहात् (भक्तिवर्द्धक नियमोंके पालनमें उत्साह) निश्चयात् (शास्त्र एवं शास्त्रानुकूल गुरुदेवके वचनोंमें दृढ़ विश्वास) धैर्यात् (अनेक विघ्न–बाधा आनेपर भी अथवा अभीष्ट–सिद्धिमें विलम्ब होनेपर भी भक्तिके साधनोंमें धैर्य रखना) तत्तत्कर्म–प्रवर्त्तनात् (श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका पालन तथा कृष्ण–प्रीतिके लिए अपने भोग–विलासका वर्जन) सङ्गत्यागात् (भक्ति–विरोधी अवैध स्त्रीसङ्ग, योषित्सङ्गीका सङ्ग, मायावादी, निरीश्वरवादी एवं धर्मध्वजीजनोंका सङ्ग छोड़ देना) सतो वृत्तेः (भक्तजनोंका–सा सदाचार और उनकी जैसी वृत्ति ग्रहण करना) षड्भिः (इन छः प्रकारके साधनोंसे) भक्तिः प्रसिध्यति (भक्तिकी सिद्धि होती है)॥३॥

भक्तिवर्द्धक नियमोंमें उत्साह रखना, शास्त्र एवं शास्त्रानुकूल श्रीगुरुदेवके वचनोंमें दृढ़ विश्वास रखना; अनेक विघ्न–बाधा आनेपर भी अथवा अभीष्ट–सिद्धिमें विलम्ब होनेपर भी भक्तिके साधनोंमें धैर्य रखना; श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका पालन तथा कृष्ण–प्रीतिके लिए अपने भोग–विलासका वर्जन करना; भक्तिविरोधी अवैध स्त्रीसङ्ग, योषित् सङ्गीका सङ्ग, मायावादी, निरीश्वरवादी और धर्मध्वजी लोगोंका सङ्ग छोड़ देना; भक्तजनोंका–सा सदाचार और उनकी जैसी वृत्ति ग्रहण करना—इन छः प्रकारके साधनोंसे भक्तिकी सिद्धि होती है।

उपदेश—प्रकाशिका टीका

तत्तदङ्गानुष्ठाने उत्सुकात्। निश्चयात् विश्वासात्। धैर्यात् स्वाभीष्ट-विलम्बेऽपि तत्तदङ्गाशैथिल्यात्। तत्तत्कर्म प्रवर्त्तनात् तस्य भगवदर्थभोग-सुखपरित्यागादिधर्मस्य करणादित्यर्थः। तथाचोक्तं भागवते—'एवं धर्मे मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्यार्थोऽस्या-वशिष्यते' इति। सतो वृत्तेः सदाचारात्॥३॥

टीकाका भावार्थ

उत्साहसे भक्तिवर्धक साधनाङ्गोंके अनुष्ठानमें उत्सुकताको समझना चाहिये। 'निश्चय' शब्द दृढ़ विश्वासका द्योतक है। अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें विलम्ब होनेपर भी भक्तिके अङ्गोंके अनुशीलनमें शिथिल न होना ही धैर्य है। भगवत्-प्रीतिके लिए अपने सुखभोगका सम्पूर्ण रूपसे त्याग एवं उसीके लिए अखिल चेष्टा परायण होना ही 'तत्तत्कर्म प्रवर्त्तन' का तात्पर्य है। श्रीमद्भागवत (११/१९/२४) में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीसे कहते हैं कि जो मनुष्य मेरे द्वारा बतलाये भक्तिके अनुकूल इन धर्मोंका पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनके हृदयमें मेरी प्रेममयी भक्तिका उदय होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी है, उसके लिए और किसी दूसरी वस्तुका प्राप्त होना क्या शेष रह जाता है? अर्थात् उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

सतोवृत्तिका तात्पर्य साधु पुरुषोंके श्रेष्ठ आचरण या भक्ति-सदाचारसे है॥३॥

पीयूषवर्षिणी—वृत्ति

जीवन-निर्वाह और भक्तिका अनुशीलन—ये दोनों ही कार्य भक्तके लिए आवश्यक हैं। इस श्लोककी पहली अर्द्धलीमें भक्ति

अनुशीलनकी अनुकूल क्रियाओंकी ओर सङ्केत किया गया है और दूसरी अर्द्धलीमें भक्तजीवनकी व्यवस्था दी गयी है। उत्साह, निश्चय, धैर्य, भक्तिपोषक कार्य-अनुष्ठान, सङ्गत्याग और सदाचारमें अथवा सद्वृत्तिसे भक्ति सिद्धि होती है।

(१) उत्साह—भक्तिके अनुष्ठानमें उत्सुकताको उत्साह कहते हैं। उत्साहके अभावमें उदासीनतासे भक्तिका लोप हो जाता है। भक्तिके अङ्गोंका आदरपूर्वक पालन करना ही उत्साह है। (२) निश्चयका अर्थ है—दृढ़ विश्वास। (३) धैर्य—अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें विलम्ब होनेपर भी साधनके अङ्गोंमें शिथिलता न आने देनेका नाम धैर्य है। (४) भक्तिपोषक कर्म—विधि और निषेधके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। श्रवण और कीर्त्तन आदि करना विधि है। श्रीकृष्ण प्रीतिके लिए अपने सुख-भोगोंके परित्यागका नाम ही निषेध है। (५) सङ्गत्याग—अभक्त, स्त्री और स्त्रीसङ्गी—इनका सङ्ग; अभक्त अर्थात् विषयी लोगोंका सङ्ग, मायावादी एवं धर्मध्वजी लोगोंका सङ्ग—इन सबका त्याग करना चाहिये। (६) सद्वृत्ति—साधुजनोंने जिस सदाचारका आचरण किया है एवं जिस वृत्तिका अवलम्बनकर जीवन-निर्वाह किया है, उसका आचरण करना चाहिये। गृहत्यागी भक्त भिक्षा या माधुकरी द्वारा तथा गृहस्थ-भक्त वर्णाश्रमकी अनुकूल वृत्ति द्वारा जीविका-निर्वाह करेंगे—यही सद्वृत्ति है॥३॥

अनुवृत्ति

ज्ञान, कर्म और अन्याभिलाष सम्बन्धी साधनों एवं रुचिकर विषय-भोगोंसे सर्वदा उदासीन होकर दृढ़तापूर्वक साधनभक्तिके अङ्गोंका पालन करना 'उत्साह' है। भगवद्भक्ति ही जीवोंके लिए एकमात्र पुरुषार्थ है—ऐसा दृढ़ विश्वास ही 'निश्चय' है। कर्म-ज्ञान आदि मार्गोंमें भटकनेसे चित्त चञ्चल होता है और उनके साधनसे केवल क्लेशमात्र ही हाथ लगता है। अतः भक्तिमार्ग ही शुद्ध जीवोंके लिए अविचलित मार्ग है—ऐसी स्थिर धारणा ही 'धैर्य'

कहलाता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका निरादर करनेवाले, वृथा ही अपनेको मुक्त माननेवाले ज्ञानियोंके पतन और भगवत्पदारविन्दोंमें प्रीति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंकी भक्तिमार्गमें स्थिरताकी बात कही गयी है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥
(श्रीमद्भा॰ १०/२/३२-३३)

भक्तिमार्गके प्रति श्रीहरिदास ठाकुरकी यह अटल प्रतिज्ञा कि भले ही मेरे शरीरको खण्ड-खण्ड कर दिया जाये, भले ही मेरे प्राण निकल जाये, किन्तु मैं हरिनामका कीर्त्तन करना कभी नहीं छोड़ सकता—भक्तिराज्यमें आदर्श है—

खण्ड-खण्ड हइ देह जाय यदि प्राण।
तबु आमि वदने ना छाड़ि हरिनाम॥
(चैतन्यभागवत)

भक्तिमार्गमें ऐसी दृढ़ताको ही धैर्य कहते हैं। ऐसी दृढ़ताके साथ हरिकथाका श्रवण, भगवन्नामका कीर्त्तन, उनके नाम, रूप और लीला-कथाओंका चिन्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका अनुशीलन—'तत्तत्कर्म प्रवर्त्तन' है। भगवद्भक्त जनोंका सङ्ग ही वाञ्छनीय है; ज्ञानी, कर्मी और अन्याभिलाषी व्यक्तियोंको विषय-विमूढ़ जानकर उनका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। किसी प्रकारकी प्रतिष्ठा पानेकी लालसासे उनके पास जानेकी तो बात ही अलग रहे, उनसे किसी प्रकारसे सम्बन्ध रखना भी उचित नहीं। ऐसे कुसङ्गसे दूर रहकर सदा-सर्वदा हरिनाम परायण भक्त-सन्तोंकी वृत्ति ग्रहण करनी चाहिये। भगवद्भावसे रहित कर्म, ज्ञान और अष्टाङ्गयोग आदि भक्ति पथके सोपान नहीं हैं। सारे गुणोंके वर्त्तमान रहनेपर

भी यदि भक्तिका अभाव हो तो, वे गुण दोषके रूपमें ही बदल जाते हैं; किन्तु भक्तिमान पुरुषमें सभी गुण निश्चित रूपमें विराजमान रहते हैं। इसलिए भक्तिमार्ग ही साधुवृत्ति है। कृष्णसेवामें उत्साह, सेवा विषयमें निश्चयता, कृष्णसेवामें स्थिरता, कृष्णसेवाके लिए ही अखिल चेष्टापरायण होना, कृष्णभक्तोंके अतिरिक्त दूसरे लोगोंका सङ्गत्याग और कृष्ण भक्तोंका अनुगमन—इन छः प्रकारके साधनोंसे भक्तिकी वृद्धि होती है॥३॥

भक्ति–पोषक सङ्ग

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥४॥

अन्वय—ददाति (विशुद्ध भक्तोंको उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुको देना) प्रतिगृह्णाति (विशुद्ध–भक्तोंके द्वारा दी हुई प्रसादी वस्तुका प्रतिग्रहण करना) गुह्यमाख्याति (भजनसम्बन्धी अपनी गुप्त रहस्यकी बात भक्तके निकट कहना) पृच्छति (रहस्यमयी गुप्त बातोंको भक्तसे पूछना) भुङ्क्ते (भक्तद्वारा दिये हुए प्रसादको प्रीतिपूर्वक भोजन करना) भोजयते (और भक्तको प्रीतिपूर्वक भोजन कराना) चैव षड्विधं (ये छः प्रकार) प्रीतिलक्षणम् (सत्सङ्गरूप प्रीतिके लक्षण हैं)॥४॥

विशुद्ध भक्तोंको उनकी आवश्यकतानुसार वस्तु देना, विशुद्ध भक्तोंके द्वारा दी हुई प्रसादस्वरूप वस्तुको लेना, भजन सम्बन्धी अपनी गुप्त बातें भक्तोंके निकट कहना, वैसे ही रहस्यमयी गुप्त बातोंको उनसे पूछना, भक्तोंके द्वारा दिये गये प्रसादको प्रीतिपूर्वक भोजन करना और उन्हें प्रीतिपूर्वक भोजन कराना—ये छः प्रकारके सत्सङ्गरूप प्रीतिके लक्षण हैं॥४॥

उपदेश–प्रकाशिका टीका

इदानीं भक्तिपोषकसत्प्रीतेः कार्यतटस्थलक्षणमाह—ददातीति। स्फुटमिदम्॥४॥

टीकाका भावार्थ

इस चौथे श्लोकमें भक्तिपोषक सत्प्रीति अर्थात् विशुद्ध भक्तसे प्रीति रखना—इस तटस्थलक्षणको बतला रहे हैं। इसका अर्थ स्पष्ट है।

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति

जनसङ्ग भक्तिके प्रतिकूल है। इसलिए उसका त्याग करना आवश्यक है। भक्तिपरायण व्यक्तियोंको जनसङ्ग–शोधक शुद्ध भक्तोंका सङ्ग करना चाहिये। भक्तिपोषक साधुसङ्गरूप प्रीतिका वर्णन इस चौथे श्लोकमें है। भक्तोंको जिस चीजकी आवश्यकता हो, उन्हें प्रीतिपूर्वक उन चीजोंको देना और भक्तजन कृपापूर्वक जो कुछ दें उसे प्रीतिपूर्वक ग्रहण करना; अपनी गुप्त बातें भक्तोंसे कहना तथा भगवद्भक्तोंसे रहस्यपूर्ण तत्त्वोंका श्रवण करना; भक्तोंको प्रीतिपूर्वक भोजन कराना एवं भक्तोंद्वारा दिये गये प्रसाद आदिका सेवन करना—भक्तजनोंके साथ ये छः क्रियाएँ होनेपर साधुसङ्ग शुद्ध रूपमें होता है। ये छः क्रियाएँ प्रीतिके लक्षण हैं। इनके द्वारा साधु–सेवा करनी चाहिये॥४॥

अनुवृत्ति

भगवद्भक्तोंके सङ्गसे भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। किन्तु वैष्णव सङ्ग किस प्रकार किया जाये, इस विषयमें बतला रहे हैं। मोक्षकी कामनावाले ज्ञानी, कर्मफल भोगकी कामनावाले भोगी या विषयी तथा अन्याभिलाषी—इन तीन प्रकारके पुरुषोंके साथ प्रीति रखनेसे उनके सङ्ग–दोषसे भक्तिकी हानि होती है। इन तीनों प्रकारके लोगोंको कोई परामर्श या कोई वस्तु नहीं देनी चाहिये। ऐसा देनेसे नामापराध होता है, क्योंकि अश्रद्धालु व्यक्तियोंको हरिनाम देना नामापराधके अन्तर्गत है। ऐसे लोगोंसे मोक्ष और भोग सम्बन्धी कोई परामर्श भी ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे उनके प्रति प्रीति हो जाती है। उन्हें कृष्णभजन करनेका उपदेश भी नहीं देना चाहिये। भक्ति सम्बन्धी गोपनीय विषयोंकी चर्चा उनके निकट नहीं करनी चाहिये। उनका स्पर्श किया हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। भोजन करनेसे उनकी भोग या मोक्षकी वृत्ति भोजन करनेवालेके हृदयमें सञ्चरित हो जाती है। "विषयीर अन्न

खाइले मलिन हय मन। मलिन मन हइले नहे कृष्णेर स्मरण"—श्रीचैतन्यचरितामृत। इसलिए उक्त तीनों प्रकारके विषयीको भोजन नहीं कराना चाहिये। भोजन करने तथा करानेसे उनसे प्रीति बढ़ती है। स्वजातीय स्निग्ध भक्तोंके साथ परस्पर प्रीति द्वारा भक्तिकी वृद्धि होती है। अतः विजातीय जनोंके साथ आदान-प्रदान, रहस्य कथन-श्रवण और भोजन करना या भोजन कराना—ये प्रीतिवर्द्धक क्रियाएँ नहीं करनी चाहिये॥४॥

मध्यम भक्तको तीन प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा

कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत
दीक्षास्ति चेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम्।
शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य-
निन्दादिशून्यहृदमीप्सितसङ्गलब्ध्या ॥५॥

अन्वय—यस्य (जिसकी) गिरि (वाणीपर) कृष्ण इति (एक कृष्णनाम) तं (ऐसे कनिष्ठ अधिकारीको) मनसा (अपना समझकर मन-ही-मन) आद्रियेत (आदर करना चाहिये)। चेत् (यदि) दीक्षास्ति (यदि कनिष्ठाधिकारीने योग्य गुरुदेवसे दीक्षा ग्रहण कर ली है) भजन्तं ईशम् (और भगवान्‌का भजन भी वैष्णव-रीतिके अनुसार करता है—ऐसे सद्-असद् विचार सम्पन्न मध्यमाधिकारीका) तथा प्रणतिभिश्च (प्रणाम आदिके द्वारा) आद्रियेत (आदर करना चाहिये) अनन्यं (जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त है) अन्यनिन्दादि शून्यहृदं (कृष्णके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी दृष्टि या अभिनिवेश नहीं होनेके कारण दूसरोंकी निन्दा आदिसे शून्य हृदयवाला है) भजनविज्ञं (मानस-सेवा द्वारा अष्टकालीयलीला-भजन परिपाटीमें अभिज्ञ महाभागवतका) ईप्सित सङ्गलब्ध्या (स्वजातीय अन्तःकरणवाले सुस्निग्धजनोंमें सर्वोत्तम सङ्ग जानकर) शुश्रूषया (प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा द्वारा) आद्रियेत (आदर करना चाहिये)॥५॥

जिसकी वाणीपर 'हे कृष्ण!' ऐसा एक भी कृष्णनाम उच्चारित हो, ऐसे कनिष्ठ अधिकारीको अपना मानकर मन-ही-मन आदर करना चाहिये; जिसने दीक्षाके तत्त्वको समझकर योग्य गुरुदेवसे दीक्षा ग्रहण कर ली है तथा वैष्णव रीतिके अनुसार भगवान्‌का भजन भी करता है, ऐसे सद्-असद् विचारसम्पन्न मध्यमाधिकारीका प्रणाम आदिके द्वारा आदर करना चाहिये और जो व्यक्ति

श्रीमद्भागवत आदि वैष्णव स्मृतियोंके अनुसार भजनके तत्त्वको भलीप्रकार जानकर अनन्य रूपसे श्रीकृष्णका भजन करता है, श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी अभिनिवेश नहीं रहनेके कारण दूसरोंकी निन्दा आदिसे शून्य निर्मल-हृदय वाला है, ऐसे भजनविज्ञ अर्थात् मानससेवाके द्वारा अष्टकालीयलीला-स्मरण भजन परिपाटीमें अभिज्ञ महाभागवतको स्वजातीय अन्तःकरण वाले सुस्निग्धजनोंमें सर्वोत्तम सङ्ग जानकर प्रणिपात, परिप्रश्न और प्रीतिपूर्वक सेवा द्वारा उनका आदर करना चाहिये॥५॥

उपदेश-प्रकाशिका टीका

इदानीं स्वरूपसिद्धामेव भक्तिमुपदिशति—कृष्णेति यस्य गिरीति। गिरि वाचि श्रीकृष्णेति नाम किन्तु गुरोः सकाशात् दीक्षा चेत् अस्ति तदा प्रणतिभिरीशं भजन्तं यतो मानससेवया अष्टकालीय-भजनपरिपाटीज्ञातारमतएव अनन्यं तादृशसेवां विहाय श्रीशादिष्वप्यन-नुगतमित्यर्थः। तदुक्तं—'तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसा।' येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनोहर्त्तुं न शक्नुयादिति। अतएव ईप्सितानां स्वजातीयानां सङ्गलाभेन सदैवान्यावसराभावानिन्दादिशून्यहृदयमित्यर्थः। एतादृशं भक्तिरसिकं मनसा आद्रियेत इति। अथवैवं सम्बन्धः। यस्य गिरि कृष्णेति तं मनसैवाद्रियेत चेद् यदि दीक्षाऽस्ति, तदा ईशं भजन्तं तं प्रणतिभिराद्रियेत। अनन्यं भजनविज्ञं तु शुश्रूषया आद्रियेत। अन्यनिन्दादिशून्यहृदं तन्तु ईप्सितसङ्गलब्ध्या आद्रियेत इति। अत्र च उत्तरोत्तरं उत्कर्षो ज्ञातव्यः। आदिना द्वेषादिपरिग्रहः। तदुक्तं—'सङ्गस्तेष्वथ के प्रार्थ्यं सङ्गदोषहरा हि ते' इति॥५॥

टीकाका भावार्थ

इस श्लोकमें स्वरूप-सिद्धाभक्तिका उपदेश किया गया है। जो लोग श्रीगुरुदेवसे दीक्षा ग्रहणकर 'कृष्ण' नाम उच्चारण करते हैं, उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। जो लोग सब समय मानस

सेवा द्वारा श्रीकृष्णका अनन्य भजन करते हैं तथा अष्टकालीय-भजन परिपाटीमें प्रवीण होते हैं, उनका अभीष्ट सङ्ग जानकर प्रीतिपूर्वक सब प्रकारसे उनकी सेवा करनी चाहिये। यहाँ अनन्य-भजनका तात्पर्य, लक्ष्मी-नारायण आदि दूसरे भगवदवतारोंके प्रति अनुरक्त न होकर केवल ऐकान्तिक रूपमें श्रीराधाकृष्णका ही व्रजमें भजन करनेसे है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—भगवान्‌के विभिन्न स्वरूपोंके ऐकान्तिक भक्तोंमें भी जिन भक्तोंका हृदय श्रीनन्दनन्दन द्वारा चुरा लिया गया है, वे सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वैकुण्ठाधिपति, श्रीलक्ष्मीपति श्रीमन्नारायणका अनुग्रह भी ऐसे भक्तोंका मन हरण नहीं कर सकता। ऐसे ऐकान्तिक भक्तजन, स्वजातीय भावसम्पन्न स्निग्ध और उत्तम रसिक भक्तोंके सङ्गमें नित्य-निरन्तर भक्तिके अनुशीलनमें तत्पर रहनेके कारण परनिन्दा आदि दोषोंसे सर्वथा रहित होते हैं। इन उत्तम भक्तोंके सङ्गको अभीष्ट जानकर उन्हें मन-ही-मन आदर और प्रणाम करें तथा प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करें।

इस श्लोककी प्रकारान्तरसे ऐसी भी व्याख्या की जा सकती है। जो लोग सद्‌गुरुसे दीक्षित होकर कृष्णनाम ग्रहण करते हैं, उनका मन-ही-मन आदर करना चाहिये; जो लोग सद्‌गुरुसे दीक्षित और सम्बन्धज्ञानसे युक्त होकर शुद्ध रूपसे भजन करते हैं, उन्हें प्रणाम आदिके द्वारा आदर करना चाहिये तथा जो निन्दा आदि दोषोंसे सर्वथा रहित और ऐकान्तिक होकर श्रीश्रीराधाकृष्णकी अष्टयामकी मानससेवामें सदा-सर्वदा तत्पर रहनेवाले श्रेष्ठ भक्तजन हैं, उन्हें स्वजातीय भावसम्पन्न, स्निग्ध एवं सर्वोत्तम भक्त जानकर प्रणिपात, परिप्रश्न और प्रीतिपूर्वक सेवा-शुश्रूषा द्वारा सर्व प्रकारसे उनका आदर करना चाहिये। इस प्रकार क्रमानुसार वैष्णवोंमें उत्कर्ष जानना चाहिये।

मूल श्लोकमें निन्दाके आगे जो 'आदि' शब्दका प्रयोग किया गया है, उसके द्वारा निन्दाके साथ द्वेष, हिंसा आदि दुर्गुणोंको भी समझना चाहिये। श्रीमद्भागवत (३/२५/२४) में कहा गया है कि

हे साध्वि! सर्वप्रकारके कुसङ्गसे रहित निर्मल साधु पुरुषोंका सङ्ग ही प्रार्थनीय है; क्योंकि ऐसा सङ्ग ही कुसङ्गके दोषोंको दूर कर सकता है॥५॥

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति

इस शिक्षाके अनुसार साधक जब तक मध्यम अधिकारमें रहता है, तब तक वह भक्तसेवा करनेके लिए बाध्य है। उत्तम भक्तकी सभीमें समबुद्धि होती है, इसलिए उसकी भक्त–अभक्तमें भेद–बुद्धि नहीं रहती। मध्यम भक्त भजन–प्रयासी होता है। इस पाँचवें श्लोकमें मध्यम भक्तोंका उत्तम श्रेणीके भक्तोंके प्रति कैसा आचरण होना चाहिये—इसका निर्देश है। स्त्री–सङ्गी, अभक्त तथा विषयी लोगोंसे दूर रहकर उनके दोषोंको अपने अन्दर नहीं आने दें। परन्तु सम्बन्ध–तत्त्वज्ञानके अभावके कारण स्वल्प–बुद्धिवाले कनिष्ठ भक्तोंको बालिश अर्थात् अज्ञ समझकर मध्यम भक्त उनपर कृपा करेंगे। उनके मुखसे कृष्णनाम श्रवणकर मध्यम भक्त मन–ही–मन उनका आदर करेंगे। दीक्षित (कनिष्ठ) व्यक्ति यदि हरिभजन कर रहा है, तो मध्यम भक्त प्रणामके द्वारा उसका आदर करेंगे। दूसरोंकी निन्दासे रहित महाभागवत लोगोंके सङ्गको कल्याणकारी समझकर उनका आदरसे सेवन करना चाहिये। इस प्रकारकी वैष्णव सेवा ही सर्वार्थ सिद्धिका मूल है॥५॥

अनुवृत्ति

"दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्। तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः"— 'श्रीभक्तिसन्दर्भ' के इस श्लोकके अनुसार जिससे जड़ीय भोगवासनाओंसे छुटकारा मिले और अप्राकृत अनुभूति हो—उस अनुष्ठानको वैष्णवजन 'दीक्षा' कहते हैं। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णनाम अभिन्न और अप्राकृत तत्त्व हैं, तथा श्रीनाम ही सर्वश्रेष्ठ उपास्य भजनीय तत्त्ववस्तु हैं, ऐसा

जानकर जो एकमात्र कृष्णनामाश्रित होकर श्रीकृष्णनाम करते हैं, उन नामपरायण भक्तका मन-ही-मन आदर करना चाहिये। पाञ्चरात्रिक मन्त्रोंमें श्रीनाम ही विराजमान हैं, फिर भी उनमें सम्बन्ध-विवेक सहित नामाश्रय करनेकी व्यवस्था है। हरिनामके आश्रित हुए बिना हरिजन नहीं हुआ जा सकता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीहरिनामके प्रति श्रद्धाके तारतम्यसे वैष्णवताका तारतम्य निर्धारित किया है। जिसने एक बार भी कृष्णनाम उच्चारण कर लिया है, वह (कनिष्ठ) वैष्णव है; जो निरन्तर कृष्णनाम करते हैं, वे वैष्णवतर (मध्यम वैष्णव) हैं तथा जिनका दर्शन करनेसे ही दूसरोंके मुखसे स्वतः श्रीकृष्णनाम निकलने लगे, उन्हें वैष्णवोत्तम (उत्तम वैष्णव या महाभागवत) कहते हैं। कनिष्ठ वैष्णवका मन-ही-मन आदर करना चाहिये। मध्यम वैष्णवका प्रणाम आदि द्वारा आदर करना चाहिये। उत्तम वैष्णवका स्वजातीय-आशय स्निग्धजनोंमें सर्वश्रेष्ठ सङ्ग जानकर उनकी सब प्रकारसे प्रीतिपूर्वक सेवा करनी चाहिये।

(१) महाभागवत सर्वत्र ही कृष्ण-सम्बन्ध दर्शन करनेके कारण समदर्शी होते हैं। वे मध्यमाधिकारीकी भाँति कृष्णभजन परायण और कनिष्ठाधिकारीकी भाँति श्रीनामपरायण होते हैं।

(२) मध्यमाधिकारी श्रीकृष्णके प्रति प्रेम, त्रिविध भक्तोंके प्रति शुश्रूषा, प्रणाम और मानसिक आदरविशिष्ट, बद्धजीवोंको कृष्णोन्मुख करनेके लिए सदा प्रयत्नशील और कृष्णद्वेषियोंके प्रति उपेक्षा-परायण होते हैं। ये उत्तमाधिकारी महाभागवतकी भाँति सर्वत्र समदर्शी नहीं होते। यदि वे कपटता करके महाभागवत सजकर उनका अनुकरण करें, तो वे शीघ्र ही पतित हो पड़ेंगे।

(३) कनिष्ठाधिकारी श्रीकृष्णनामको परम कल्याणकारी समझकर श्रीकृष्णनामका आश्रय ग्रहण करते तो हैं, परन्तु मध्यमाधिकारीका आसन ऊँचा है और वही भविष्यमें उनका प्राप्य अधिकार है—इस विषयकी उन्हें उपलब्धि नहीं होती। कनिष्ठ अधिकारी कभी-कभी अपनेमें गुरु होनेका अभिमानकर अधःपतित हो पड़ते

हैं। अतः सावधानीपूर्वक उन्हें अपनेसे उत्तम वैष्णवोंको यथायोग्य सम्मान देते हुए श्रीनामका आश्रय लेना चाहिये॥५॥

प्राकृत दृष्टिसे अप्राकृत वैष्णव—दर्शन निषिद्ध है

दृष्टैः स्वभावजनितैर्वपुषश्च दोषै-
र्न प्राकृतत्वमिह भक्तजनस्य पश्येत्।
गङ्गाम्भसां न खलु बुद्बुदफेन पङ्कै-
र्ब्रह्मद्रवत्वमपगच्छति नीरधर्मैः ॥६॥

अन्वय—इह (इस जगत्‌में अवस्थित) भक्तजनस्य (भगवत्-भक्तजनोंके) स्वभावजनितैः (नीच वर्ण, कर्कशता, आलस्य आदि स्वाभाविक दोष) वपुषश्च दोषैः (कुरूपता, पीड़ा और ज्वर आदिसे विकृत दर्शन आदि शारीरिक दोष) दृष्टैः प्राकृतत्वं (देखे जानेपर भी प्राकृत दृष्टिसे) न पश्येत् (नहीं देखना चाहिये अर्थात् उन्हें प्राकृत जीव नहीं समझाना चाहिये) यथा बुद्बुदफेन पङ्कैः (जैसे बुलबुलों, फेन और कीचड़ आदिके सम्बन्धसे) गङ्गाम्भसां (गङ्गाजल) नीरधर्मैः (जलधर्मके प्रभावसे) ब्रह्मद्रवत्वं (द्रवीभूत ब्रह्म होनेका धर्म अर्थात् अप्राकृतत्व) न खलु अपगच्छति (कदापि परित्याग नहीं करता, वैसे ही आत्मस्वरूप प्राप्त वैष्णवोंके प्राकृत दोषोंको नहीं देखना चाहिये)॥६॥

इस जगत्‌में अवस्थित भक्तजनोंमें नीचवर्ण, कठोरता और आलस्य आदि दिखायी पड़नेवाले स्वाभाविक दोषोंके द्वारा अथवा कुरूपता और ज्वर आदि पीड़ाओंसे विकृत दिखायी पड़नेवाले शारीरिक दोषोंके द्वारा भक्तजनोंका प्राकृतपना नहीं देखना चाहिये अर्थात् उन्हें प्राकृत जीव नहीं समझना चाहिये, जैसे बुलबुलों, फेन और कीचड़ आदिके सम्बन्धसे गङ्गाजल जलधर्मको अङ्गीकार करके भी अपना द्रवीभूत-ब्रह्म होनेका धर्म त्याग नहीं करता अर्थात् अप्राकृत धर्म नहीं छोड़ता; वैसे ही आत्मस्वरूप प्राप्त वैष्णवोंमें प्राकृत दोषोंका आरोप नहीं करना चाहिये॥६॥

उपदेश—प्रकाशिका टीका

प्राकृतिके लोके तद्वदाचारेण भक्तस्य प्राकृतत्वज्ञानेऽपि न तद्दृष्टिः विधेयेत्याह—दृष्टैरिति। स्वभावजनितैर्मानसैर्लोभादि दोषैः कायिकैश्च मालिन्यजरादिभिर्भक्तजनस्य प्राकृतत्वं न पश्येत्। लोभादेर्व्यपदेशत्वेन मालिन्यजरादेश्च सिद्धस्तच्छरीरासम्भवत्वेन तथा दृष्टौ अपराधापातात्। तदेवान्यार्थदर्शनेनाह—गङ्गाम्भसामिति। व्यक्त-मिदम्॥६॥

टीकाका भावार्थ

प्राकृत जगत्में अवस्थित होनेके कारण प्राकृत दृष्टिसे, शुद्ध भक्तोंमें कुछ तात्कालिक प्राकृत दोष-सा प्रतीत होता है, तथापि उन्हें प्राकृत नहीं मानना चाहिये। उनमें कर्कशता, क्रोध और लोभादि स्वभावगत दोषों तथा मलिनता, कुरूपता, वृद्धावस्था आदि शरीरगत दोषोंको देखकर उनमें प्राकृत भावका आरोप नहीं करना चाहिये। भक्तोंके सिद्ध शरीरमें उन प्राकृत दोषोंका रहना असम्भव है। अतएव उनमें इन जड़ीय दोषोंको देखना अपराधजनक है। इस विषयको गङ्गाजलके उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है॥६॥

पीयूषवर्षिणी—वृत्ति

शुद्ध भक्तोंमें प्राकृत दोषोंको देखकर उन्हें प्राकृत समझना उचित नहीं है, छठे श्लोकमें यही उपदेश है। शुद्ध भक्तोंमें कुसङ्ग और नामापराध होना असम्भव है। उनमें शरीरगत और स्वभावगत कुछ-कुछ दोष हो सकते हैं। जैसे मलिनता, पीड़ा, कुरूपता, बुढ़ापा आदि शरीरगत दोष हैं। नीचवर्ण, कठोरता, आलस्यादि—ये स्वभावगत दोष हैं। जिस प्रकार जलके धर्मके कारण गङ्गाजलमें बुद्बुद, फेन और कीचड़ आदि होनेपर भी वह अपवित्र नहीं समझा जाता, वह अपना ब्रह्म-द्रवत्व परित्याग नहीं करता, उसी

प्रकार आत्मस्वरूप प्राप्त वैष्णवगण भी जड़देहके जन्म और विकार धर्म द्वारा दूषित नहीं होते। इसीलिए भजनप्रयासी व्यक्ति शुद्ध वैष्णवमें इन दोषोंको देखकर भी उनकी अवज्ञा नहीं करेंगे। ऐसा करनेसे अपराधी बनेंगे॥६॥

अनुवृत्ति

शुद्ध भक्तोंके तात्कालिक स्वभावगत और शरीरगत दोषोंको प्राकृत दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये। जैसे बुलबुले, फेन और कीचड़से मिलित रहनेपर भी गङ्गाजल सदैव अप्राकृत ब्रह्मद्रव ही रहता है, उसी प्रकार शुद्ध भक्तजन भी सदैव अप्राकृत तत्त्व ही हैं; उनमें प्राकृत भाव दर्शन करना अपराधजनक है। श्रीगीतामें भी ऐसे ही सावधान किया गया है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(श्रीगीता ९/३०-३१)

कृष्णभक्त आचार्यवंश या गोस्वामीवंशमें जन्म न लेनेपर भी उन्हें 'गोस्वामी' या 'प्रभु' नहीं माननेसे केवल प्राकृत दर्शन ही होता है। गोस्वामीवंशमें अथवा किसी भी कुलमें जन्म लेनेवाले भक्तजन—दोनों ही भक्त हैं। उनमें भेद नहीं देखना चाहिये। किसी भी कुलमें जन्म लेनेपर भी उनमें प्राकृत गुणोंका आरोप करनेसे अपराध होता है। परन्तु कोई व्यक्ति भक्ति मार्गपर कुछ अग्रसर होते-न-होते ही प्रारम्भिक दशामें ही अपनेको भक्त मानकर यदि प्राकृत दुराचार करने लगे, तो वह भक्तिमार्गसे च्युत हो जाता है। ऐसे लोगोंके संसर्गसे भक्ति-वृत्ति नष्ट हो जाती है।

कुछ लोग ब्राह्मण आदि उच्च कुलमें जन्म होनेके मदमें चूर होकर सिद्ध भक्तोंके आचार-विचारको समझ नहीं पाते, अतः

उनकी नाना प्रकारसे अवज्ञा करते हैं—इससे वे लोग वैष्णवापराधी हो पड़ते हैं। अतः इस विषयमें साधकोंको सावधान रहना चाहिये॥६॥

श्रीकृष्णनामादि–भजनकी प्रणाली

स्यात् कृष्णनामचरितादि सिताप्यविद्या–
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गतमूलहन्त्री॥७॥

अन्वय—नु (अहो) अविद्यापित्तोपतप्तरसनस्य (जिनकी रसना अविद्यारूपी पित्तके द्वारा सन्तप्त है अर्थात् जो अनादिकालसे कृष्णविमुख रहनेसे अविद्या द्वारा ग्रस्त हैं, उन्हें) कृष्णनाम–चरितादि सिता अपि (श्रीकृष्ण नाम, रूप, गुण और लीलाकथादिरूप अत्यन्त मीठी मिश्री भी) रोचिका न स्यात् (रुचिकर नहीं होती)। किन्तु (यदि) आदरात् (आदरपूर्वक या श्रद्धाके साथ) अनुदिनं (निरन्तर) खलु सैव (वही कृष्ण नाम–चरितादि–रूप मिश्री निश्चित रूपमें) जुष्टा सती (सेवन करनेपर) क्रमात् (क्रमशः) स्वाद्वी भवति (सुस्वादु लगने लगती है) तद्गत मूलं हन्त्री च भवति (एवं कृष्ण–विमुखतारूप जड़ भोगव्याधि भी समूल नष्ट हो जाती है)॥७॥

अहो! जिनकी रसना अविद्यारूपी पित्तके द्वारा सन्तप्त है—अनादि कालसे कृष्ण–विमुख रहनेसे जो अविद्या द्वारा ग्रस्त हैं, उन्हें श्रीकृष्ण–नाम–चरितादिरूप अत्यन्त मीठी मिश्री भी रुचिकर नहीं होती, कड़वी लगती है; किन्तु श्रद्धापूर्वक उसी श्रीकृष्णनाम–चरितादिरूप मिश्रीका निरन्तर सेवन करनेपर, वही क्रमशः सुस्वादु लगने लगती है तथा कृष्ण–विमुखता अर्थात् अविद्यारूपी पित्तरोगका समूल विनाशक भी बन जाती है॥७॥

उपदेश–प्रकाशिका टीका

इदानीं साधकचित्तस्यास्थिरत्त्वेन नाम ग्रहणाद्यरुचावपि तदभ्यासशैथिल्यं न विधेयमित्युपदिशति–स्यादिति। अविद्या अनादिवैमुख्यं सैव पित्तं तेनोपतप्ता कषायित्ता रसना जिह्वा यस्य तस्य श्रीकृष्ण नाम चरितादिसितापि नु अहो, रोचिका न भवत्येव किन्त्वादरात् सैव सिता अनुदिनं जुष्टा सती क्रमात् स्वाद्वी तद्गतमूलापराधहन्त्री च भवतीत्यर्थः ॥७॥

टीकाका भावार्थ

अनर्थयुक्त अवस्थामें साधकोंका चित्त चञ्चल होनेके कारण भगवन्नाम आदिमें उनकी सहज ही रुचि नहीं होती; तथापि श्रीनाम आदि करनेमें तनिक भी शिथिलता नहीं करनी चाहिये। श्रीकृष्णके प्रति अनादि विमुखता ही अविद्या है। वही पित्तस्वरूप है। उसके द्वारा पीड़ित होनेके कारण जिन व्यक्तियोंकी जिह्वाका स्वाद बिगड़ गया है, उन्हें श्रीकृष्णकी नाम, रूप, गुण और लीला–कथारूप सुमधुर मिश्री भी रुचिकर नहीं लगती है। किन्तु जिस प्रकार उसी मिश्रीका निरन्तर सेवन करनेपर पित्तरोग क्रमशः दूर हो जाता है और मिश्री भी मीठी लगने लगती है, उसी प्रकार प्रतिदिन आदरपूर्वक नियमित रूपसे श्रीकृष्णनामका कीर्त्तन और उनकी लीला–कथाओंके श्रवण आदि भक्ति–अङ्गोंका अनुशीलन करनेसे साधकोंके अपराध आदि अनर्थ दूर हो जाते हैं तथा श्रीनाम और हरिकथामें स्वाभाविक प्रीति भी उत्पन्न हो जाती है॥७॥

पीयूषवर्षिणी–वृत्ति

तीसरे श्लोकमें भक्तिपोषक जिन गुणोंको बतलाया गया है, उनके साथ–साथ सम्बन्धज्ञानके सहित कृष्णनामादि अनुशीलनकी प्रणालीका भी इस श्लोकमें वर्णन है। अविद्यारूपी पित्तसे उत्तप्त

रसना द्वारा कृष्णकी लीला-कथाओं और उनके नामादिका कीर्त्तन नहीं हो सकता। किन्तु आदरके साथ नित्यप्रति सेवन करनेसे नामचरितादिरूपी मिश्री अविद्या रोगको नाश करनेमें समर्थ होती है। कृष्णरूप विभु-चैतन्य सूर्यकी किरण-कणोंके समान प्रत्येक जीव स्वभावतः कृष्णदास है। इस कृष्णदास्यकी विस्मृतिसे जीव अविद्यारूप रोगसे ग्रस्त हो गया है, जिसके कारण कृष्ण-नाम-चरितादिके प्रति रुचिशून्य हो गया है। किन्तु साधु-गुरु-वैष्णवोंकी कृपासे सत्सङ्गका सेवन करके वह पुनः श्रीकृष्णनाम-गुण-रूप-लीलाका स्मरण करनेमें समर्थ होता है और अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है। जैसे-जैसे स्व-स्वभावका विकास होता जाता है, वैसे-वैसे ही भगवान्के नाम-चरितादिमें रुचि बढ़ती जाती है। इसके साथ ही जीवकी अविद्या भी क्रमशः दूर होती जाती है। मिश्री ही तुलनाका स्थल है। जिस प्रकार पीलिया रोगग्रस्त रसनाको मिश्री रुचिकर नहीं लगती, किन्तु मिश्रीका सेवन करते रहनेसे पित्तका जैसे-जैसे नाश होता जायेगा, वैसे-वैसे मिश्री मीठी लगने लगेगी। अतएव उत्साह, विश्वास और धैर्यके साथ कृष्णनाम चरितादिका श्रवण, कीर्त्तन करते रहना चाहिये॥७॥

अनुवृत्ति

भगवान्का नाम एवं उनकी लीलाकथाओंको मिश्रिकी तथा अविद्याको पित्तरोगकी उपमा दी गयी है। जिस प्रकार पित्तरोगसे ग्रस्त व्यक्तिकी जिह्वाको सुमिष्ट मिश्री रुचिकर नहीं लगती, उसी प्रकार अनादि कालसे कृष्ण-विमुखतारूप अविद्यासे ग्रस्त जीवको अत्यन्त ही मधुर मिश्रीके समान भगवान्का नाम एवं उनकी लीलाकथाएँ भी रुचिकर नहीं लगती। परन्तु यदि आदरपूर्वक अर्थात् श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा भगवान्का नाम एवं उनकी लीलाकथारूप मिश्रीका सेवन किया जाये, तो क्रमशः अविद्यारूप पित्तरोग दूर होने लगता है तथा नाम एवं कथारूप मिश्री सुस्वादु लगने लगती हैं।

"तच्चेद्देहद्रविणजनतालोभपाषण्डमध्ये निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र॥" (श्रीपद्मपु० स्व० ख० ४८ अ०)

अविद्याके वशमें होनेके कारण जीव शरीर, धन, पुत्र-परिवारमें आसक्ति एवं भगवान् और तत्-अभाव मायाको अभिन्नवस्तुज्ञानरूप भ्रान्तिको बहुमानन करनेके कारण अपने स्वरूपको जाननेमें असमर्थ हो जाता है। परन्तु कृष्णनामके बलसे उसके अविद्यासे उत्पन्न ये समस्त अभिमान उसी प्रकार दूर हो जाते हैं, जिस प्रकार तेज हवासे मेघसमूह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं॥७॥

भजन–प्रणाली एवं भजनका श्रेष्ठ स्थान

तन्नामरूपचरितादि–सुकीर्त्तनानु–
स्मृत्योःक्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी
कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम् ॥८॥

अन्वय—क्रमेण (क्रम मागसे) रसनामनसी (रसना और मनको) तन्नामरूपचरितादि (व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाकथाके) सुकीर्त्तनानुस्मृत्योः (भली प्रकार कीर्त्तन और स्मरणमें) नियोज्य (नियुक्तकर) तिष्ठन् व्रजे (जातरुचि होकर व्रजमें ही रहकर) तदनुरागिजनानुगामी (व्रजवासीजनोंके अनुगत होकर) कालं नयेत् (अपने समस्त समयको व्यतीत करता रहे) इति (यही) अखिलं (सारे) उपदेशसारम् (उपदेशोंका सार है)॥८॥

भक्तमात्रको चाहिये कि वह अपनी रसना और मनको अन्यान्य कृष्णेतर विषयोंसे हटाकर श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला–कथाके कीर्त्तन और स्मरणमें क्रमशः लगाकर, श्रीव्रजमण्डलमें ही निवासकर, श्रीकृष्णके अनुरागीजनोंका अनुगामी बनकर अपने समस्त समयको व्यतीत करता रहे; यही सारे उपदेशोंका सार है॥८॥

उपदेश–प्रकाशिका टीका

ननु तादृशाभ्यास कुत्र स्थित्वा विधेयः मनश्च कुत्र नियोज्य–मित्याकाङ्क्षायामुपदेशसारमाह—तदिति। तस्यैव श्रीकृष्णस्य सर्व–चित्ताकर्षकत्वेन तादृशरूढ्या यशोदानन्दनत्वेन च व्रजे ख्यातस्य नामरूपचरितादिविषयिके ये कीर्त्तनानुस्मृती तयोः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य व्रज एव तिष्ठन् सन् अखिलं कालं नयेत्। ननु, भक्तेश्च

भक्तानुगत्यानुरूपत्वाद्भक्तानां च द्वैविध्यात् केऽनुगम्या इत्याशङ्क्याह— तदनुरागिजनानुगामीति। तं व्रजं व्रजस्थलीलान्तःपातिनं नरलीलं भक्तमनुगन्तुं शीलं तेषां गुर्वादिजनानामित्यर्थः। व्रजानुरागिजनानुगामी सन् न तु पुराद्यनुरागिजनानुगामी सन् इति वा। भक्तानाञ्च तटस्थ-लीलान्तःपातित्वादयो भेदा न प्रीतये अनुरागाय इत्यस्य श्लोकस्य वैष्णवतोषिण्यां दृश्या इति॥८॥

टीकाका भावार्थ

अब नवीन साधकोंके मनमें यह प्रश्न उठ सकता है कि श्रीकृष्णनाम-चरितादिका अनुशीलन कहाँ रहकर किया जाये और कैसे किया जाये? इसके उत्तरमें समस्त उपदेशोंके सारस्वरूप इस श्लोककी अवतारणा हुई है। केवल श्रीकृष्ण ही अखिल जगत्के प्राणीमात्रके चित्तको आकर्षण करनेमें समर्थ हैं। वे ही रूढ़िवृत्तिके द्वारा व्रजमें सर्वत्र यशोदानन्दनके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इसलिए भक्तमात्रको अपनी जिह्वाको श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुण-लीलाकथा आदिके भली प्रकार कीर्त्तनमें तथा मनको उनके स्मरणमें लगाकर श्रीव्रजमण्डलमें ही वासकर भक्तोंके आनुगत्यमें जीवन यापन करना चाहिये । कैसे भक्तोंके आनुगत्यमें? वैधी और रागानुगा—दो प्रकारकी भक्ति होती है । इन दो प्रकारकी भक्तियोंके साधकभक्त भी दो प्रकारके होते हैं—वैधीभक्ति करनेवाले वैधभक्त तथा रागानुगा भक्ति करनेवाले रागानुगीयभक्त। इनमेंसे रागानुगीय भक्तोंका ही अनुगमन अभीष्ट है। 'तदनुरागी जनानुगामी' कहनेसे नित्य व्रजलीलाके अन्तरङ्ग-सङ्गी—नरलीलाकारी श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके अन्तरङ्ग-लीला-परिकरोंका अनुगमन करनेवाले रसिक गुरुजनोंके अनुगत रहकर श्रीकृष्णभक्तिके अनुशीलन करनेकी बात कही गयी है॥८॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति

इस श्लोकमें भजन-प्रणालीकी तथा भजनके लिए सर्वोत्तम स्थानकी व्यवस्था दी गयी है। क्रमोन्नत प्रणालीसे निरन्तर साधन

करनेके अभिप्रायसे श्रीकृष्ण-नाम-रूप-चरित आदिका सुन्दर रूपसे कीर्त्तन और स्मरण-विधिमें क्रमशः रसना और मनको नियुक्त करके व्रजमें वास करते हुए व्रजरसानुगामी जनोंके अनुगत होकर जीवनकी प्रत्येक घड़ी बितानी चाहिये। इस मानस सेवामें मनसे व्रजवासकी ही प्रयोजनीयता है॥८॥

अनुवृत्ति

पूर्व-पूर्व श्लोकोंमें बतलायी गयी विधियोंसे साधक अपने मनको अन्यान्य विषयोंसे हटाकर श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंके कीर्त्तन और स्मरणमें क्रमशः रसना और मनको नियुक्तकर व्रजमें निवास करते हुए व्रजरस-रसिकोंका अनुगमनपूर्वक अपना सारा जीवन व्यतीत करें—यही सारे उपदेशोंका सार है।

साधकजीवनमें सबसे पहले श्रवणदशा होती है। इस दशामें कृष्णनाम, कृष्णरूप, कृष्णगुण और कृष्णकथाका श्रवण करते-करते कुछ परिपक्व अवस्थामें वरणदशा आरम्भ होती है। इस समय श्रवण किये गये विषयोंका कीर्त्तन होने लगता है। अपने हृदयस्थित भावके साथ कीर्त्तन करते-करते स्मरणदशा उपस्थित होती है। स्मरणमें भी पाँच प्रकारकी स्थितियाँ हैं—स्मरण, धारणा, ध्यान, अनुस्मृति और समाधि। विक्षेपयुक्त चिन्तनको 'स्मरण' कहते हैं। अविक्षिप्त स्मरणको 'धारणा' कहते हैं। चिन्तनीय विषयकी सर्वाङ्ग भावना ही 'ध्यान' है। सब समय ध्यानका होना ही 'अनुस्मृति' है तथा बाधारहित निरन्तर ध्यानको ही समाधि कहते हैं। स्मरणदशाके अनन्तर आपनदशा उपस्थित होती है। इस दशामें साधकको अपने शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धि होती है। तत्पश्चात् सम्पत्तिदशामें वस्तुसिद्धि होती है।

वैधभक्त अपनी अन्यान्य कामनाओंको छोड़कर शास्त्र सद्गुरु और शुद्ध वैष्णवोंके उपदेशानुसार भजन करनेपर उन्हें भजनमें रुचि पैदा होती है। रुचि उत्पन्न होनेपर वे वैधमार्गको छोड़कर

रागानुगाभक्ति मार्गमें प्रवेश करते हैं। "इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्। तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता॥" (श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)। "रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम। ताहा शुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान॥ लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति। शास्त्र युक्ति नाहि माने रागानुगार प्रवृत्ति॥ बाह्य अभ्यन्तर इहार दुइत साधन। बाह्य साधक देहे करि श्रवण कीर्त्तन॥ मने निज सिद्ध देह करिया भावन। रात्रि दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥" (श्रीचैतन्यचरितामृत) "सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि। तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः।" "निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ पाछे त लागिया। निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हइया।" "कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्। तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा।" "दास सखा पित्रादि प्रेयसीरगण।" (श्रीचैतन्य-चरितामृत)

सारार्थ यह है कि अपने भावानुसार प्रियतम श्रीकृष्णका एवं अपने भावानुरूप श्रीकृष्णके भक्तोंका स्मरण करता हुआ तथा अपने भावानुकूल श्रीकृष्णके व्रजलीला सम्बन्धी नामों और लीलाकथाओंमें संलग्न होकर, भक्तमात्रको व्रजमण्डलमें ही निवास करते रहना चाहिये। अर्थात् शान्तरसवाले भक्तको गो, वेत्र, वेणु, विषाण, कदम्ब आदिके अनुगत होकर, दास्यरसवाले भक्तको रक्तक-पत्रक आदि व्रजस्थ दासोंके अनुगत होकर, सख्यरसवाले भक्तको श्रीबलदेव, श्रीदामा, सुदामा आदिके अनुगत होकर, वात्सल्यरसवालेको श्रीनन्द-यशोदा आदिके तथा शृङ्गाररसवालेको श्रीललिता-विशाखा आदिके अनुगत होकर भावसम्बन्धी उन्हींकी कथाओंमें निमग्न होकर व्रजमण्डलमें निवास करना चाहिये। श्रीश्रीराधाकृष्णके भजनके लिए व्रजमण्डलसे बढ़कर कोई भी स्थान नहीं है। इसलिए ब्रह्मा एवं उद्धव जैसे भक्तश्रेष्ठ भी व्रजमें तृण-गुल्मका जन्म लेकर निवास करनेकी प्रार्थना करते हैं॥८॥

❀❀❀

सर्वश्रेष्ठ भजनस्थान कौन-सा है?

वैकुण्ठाज्जनितो वरा मधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद्
वृन्दारण्यमुदारपाणिरमणात्तत्रापि गोवर्द्धनः।
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताप्लावनात्
कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः॥९॥

अन्वय—जनितः (श्रीकृष्णके जन्म लेनेके कारण) वैकुण्ठात् (ऐश्वर्यमय वैकुण्ठसे भी) मधुपुरी (मथुरामण्डल) वरा (श्रेष्ठ है) तत्रापि (मथुरामण्डलमें भी) रासोत्सवात् (रासोत्सव होनेके कारण) वृन्दारण्यं वरं (वृन्दावन श्रेष्ठ है) तत्रापि (उस वृन्दावनमें भी) उदारपाणि (श्रीकृष्णकी) रमणात् (विहारस्थली होनेके कारण अथवा श्रीकृष्णके कर-कमलोंमें क्रीड़ा करनेके कारण) गोवर्द्धनः वरः (श्रीगोवर्धन श्रेष्ठ है) तत्रापि (इस गोवर्धनमें भी) गोकुल पतेः (श्रीकृष्णके) प्रेमामृताप्लावनात् (प्रेमामृतमें स्नान करानेके कारण) राधाकुण्डं वरं (श्रीराधाकुण्ड श्रेष्ठ है) गिरितटे विराजितः (अतः गोवर्धनके तटमें विराजमान) अस्य (इस राधाकुण्डका) कः विवेकी (कौन-सा विवेकसम्पन्न व्यक्ति) सेवां न कुर्यात् (सेवन नहीं करेगा? अपितु करेगा ही)॥९॥

अन्य लोकोंकी अपेक्षा वैकुण्ठलोक श्रेष्ठ है; ऐश्वर्यमय वैकुण्ठधामसे भी श्रीकृष्णके जन्म लेनेके कारण मथुरामण्डल अधिकतर श्रेष्ठ है; मथुरामण्डलमें भी रासोत्सव होनेके कारण वृन्दावन श्रेष्ठ है; उस वृन्दावनमें भी श्रीकृष्णकी विहारस्थली होनेके कारण अथवा श्रीकृष्णके कर-कमलमें क्रीड़ा करनेके कारण श्रीगोवर्धन श्रेष्ठ है; इस गोवर्धनमें भी श्रीकृष्णके प्रेमामृतमें स्नान करानेके कारण श्रीराधाकुण्ड श्रेष्ठ है; श्रीगोवर्धनके तटमें विराजमान इस श्रीराधाकुण्डका कौन-सा विवेकसम्पन्न व्यक्ति सेवन नहीं करेगा? अपितु करेगा ही॥९॥

उपदेश–प्रकाशिका टीका

तत्र पूर्वं यद् व्रज एव तिष्ठन् इत्युक्त्वा तत्रापि कुत्रेत्यत आह वैकुण्ठादिति। जनितः श्रीकृष्णावतारणाद्धेतोः वैकुण्ठात् सकाशात् मधुपुरी वरा माथुरमण्डलमुत्कृष्टम्। तत्रापि रासोत्सवाद्वृन्दारण्यम्। तत्रापि उदारपाणेः श्रीव्रजराजकुमारस्य रमणात् क्रीडनप्राचुर्यतो यद्वा, श्रीकृष्णस्य उदारपाणौ रमणात् क्रीडया धृतः श्रीगोवर्द्धनः। इहापि श्रीराधाकुण्डं तत्र हेतुः गोकुलेत्यादि। गोकुलपतेः श्रीगोकुलेन्द्रस्य यत् श्रीराधाविषकं प्रेमामृतं तत्कर्त्तृकं यदा प्लावनं संव्यापनं तस्माद्धेतोरित्यर्थः। तदुक्तं—'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं तथा प्रियम्' इति। अथवा गोकुलपतिसम्बन्धि यत् प्रेमामृतं तेनैव भक्तस्याप्लावनं भवति यस्मिन् ततो एव हेतोरिति। यस्माद् गिरितटे विराजतः प्रकाशमानत्वेन स्थितस्यास्य श्रीकुण्डस्य सेवां को वा विवेकी न कुर्यात् अपि तु सर्व एवेति। यथोत्तरं हेतुप्रकर्षात्तत्तत्स्थानस्य चिद्रूपाद्यविशेषेऽपि स्वरूपशक्तिस्वाभाविकवैचित्रीवशादेव श्रेष्ठमिति भावः ॥९ ॥

टीकाका भावार्थ

पूर्व श्लोकमें व्रजमें वासकर भजन करनेका उपदेश है। किन्तु व्रजमें भी कहाँ निवास किया जाये, इसके उत्तरमें स्पष्ट कर रहे हैं। मथुरामें श्रीकृष्णका जन्म होनेके कारण मथुरा ऐश्वर्यपूर्ण वैकुण्ठकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। उस मथुरामण्डलमें भी रासोत्सवस्थली होनेके कारण वृन्दावन श्रेष्ठ है। वृन्दावनमें भी श्रीकृष्णकी स्वच्छन्द विहारस्थली होनेके कारण अथवा श्रीकृष्णके कर–कमलोंमें क्रीड़ा करने हेतु श्रीगोवर्धन श्रेष्ठ है। इस गोवर्धनमें भी श्रीगोकुलचन्द्रके श्रीराधिका–विषयक प्रेमामृतमें स्नान करानेवाले श्रीराधाकुण्ड सर्वश्रेष्ठ है। श्रीराधाकुण्ड वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाके समान श्रीकृष्णका अत्यन्त प्यारा है—ऐसा शास्त्रोंमें उल्लेख है। यद्यपि ऊपर कहे गये सभी धाम या श्रीकृष्णलीलाके सभी स्थल स्वरूपशक्ति द्वारा

प्रकटित विशुद्ध चिन्मयस्वरूप हैं, तथापि श्रीराधाकुण्ड, स्वरूपशक्तिकी स्वाभाविकी लीला-वैचित्रीको पराकाष्ठा रूपमें प्रकाश करनेवाला होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ स्थान है॥९॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति

भजनीय स्थानोंमें श्रीराधाकुण्ड सबसे श्रेष्ठ है। यह इस नवें श्लोकमें बतलाया गया है। श्रीकृष्णका जन्म होनेके कारण मथुरा ऐश्वर्यमय परव्योम वैकुण्ठसे श्रेष्ठ है। मथुरामण्डलके भीतर वृन्दावन श्रेष्ठ है। उदारपाणि श्रीकृष्णकी नाना प्रकारकी लीलाओंका स्थान होनेके कारण श्रीगोवर्धन सम्पूर्ण व्रजमें श्रेष्ठ हैं। श्रीमद् गोवर्धनके निकट ही श्रीराधाकुण्ड विराजमान है। वहाँपर श्रीकृष्णके प्रेमामृतका विशेष रूपमें भण्डार होनेसे वही सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा कौन-सा भजनविवेकी पुरुष होगा, जो श्रीराधाकुण्डकी सेवा नहीं करेगा? अर्थात् भगवद्भक्तजन निश्चय ही श्रीराधाकुण्डकी सेवा करते हैं। राधाकुण्डमें स्थूलदेह अथवा सिद्धदेहसे निरन्तर वास करते हुए पूर्वोक्त भजन प्रणालीका अवलम्बन करना चाहिये॥९॥

अनुवृत्ति

अन्यान्य धामोंसे परव्योमधामस्थ वैकुण्ठ श्रेष्ठ है। भगवान्का जन्मस्थान होनेके कारण मथुरामण्डल वैकुण्ठकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। श्रीकृष्णकी रासस्थली होनेके कारण वृन्दावन मथुरासे श्रेष्ठ है। स्वच्छन्द विहारस्थली होनेके कारण श्रीगोवर्धन वृन्दावनसे भी श्रेष्ठ है। श्रीकृष्णप्रेमामृतके प्लावन-क्षेत्र होनेके कारण श्रीराधाकुण्ड श्रीगोवर्धनसे भी श्रेष्ठ है। श्रीराधाकुण्डसे बढ़कर और कोई स्थान नहीं है। अतः ऐसा कौन बुद्धिमान व्यक्ति होगा, जो श्रीगोवर्धनके तटमें विराजमान श्रीराधाकुण्डकी सेवा नहीं करेगा अर्थात् सभी करेंगे। श्रीमन् महाप्रभुके अन्तरङ्ग परिकर श्रीरूप गोस्वामीजीने श्रीगौरहरिके हृदयके सर्वोच्च भावको जानकर श्रीराधाकुण्डकी

सेवाको सर्वोत्तम बतलाया है। श्रीराधाकुण्डकी महिमा श्रीगौरभक्तिहीन अन्यान्य मधुररसाश्रित प्रेमी भक्तोंके लिए भी दुर्ज्ञेय और अगम्य है ॥९ ॥

श्रीकृष्णका सर्वाधिक प्रिय कौन है?

कर्मिभ्यः परितो हरेः प्रियतया व्यक्तिं ययुर्ज्ञानिन–
स्तेभ्यो ज्ञानविमुक्तभक्तिपरमाः प्रेमैकनिष्ठास्ततः।
तेभ्यस्ताः पशुपालपङ्कजदृशस्ताभ्योऽपि सा राधिका
प्रेष्ठा तद्वदियं तदीय सरसी तां नाश्रयेत् कः कृती॥१०॥

अन्वय—कर्मिभ्यः (सदा-सर्वदा सत्कर्मोंमें लगे हुए पुण्यवान कर्मकाण्डियोंसे) परितः (सब प्रकारसे) ज्ञानिनः (तीनों गुणोंसे अतीत ब्रह्मज्ञानी) हरेः (श्रीकृष्णके) प्रियतया (प्रिय हैं) व्यक्तिं ययुः (ऐसा शास्त्रोंमें उल्लेख है) तेभ्यः (उन ज्ञानियोंकी अपेक्षा) ज्ञानविमुक्तभक्तिपरमाः (ज्ञानके प्रयासको छोड़कर, केवल भक्तिको ही श्रेष्ठ माननेवाले सनकादि भक्तजन श्रीकृष्णके परम प्रिय हैं) ततः (तथा सब प्रकारके भक्तोंसे) प्रेमैकनिष्ठाः (केवल प्रेमकी निष्ठावाले नारद आदि शुद्ध भक्तजन श्रीकृष्णके और भी अधिक प्रिय हैं); तेभ्यः (उन सब प्रेमी भक्तोंकी अपेक्षा) ताः पशुपालपङ्कजदृशः (कृष्णगत प्राण व्रजगोपिकाएँ श्रीकृष्णकी अतिशय प्यारी हैं) ताभ्योऽपि (उन प्यारी गोपियोंमें भी) सा राधिका (श्रीमती राधिका) श्रेष्ठा (श्रीकृष्णकी सर्वाधिक प्रिया हैं) तद्वदियं (उसी प्रकारसे यह) तदीय सरसी (श्रीराधाकुण्ड भी श्रीकृष्णका अतिशय प्यारा है)। कः कृती (अतः ऐसा कौन-सा सौभाग्यवान सुचतुर व्यक्ति होगा कि) तां न आश्रयेत् (जो श्रीराधाकुण्डमें अप्राकृत रूपमें निवास करता हुआ श्रीकृष्णका आठों याम भजन नहीं करेगा? अपितु करेगा ही)॥१०॥

स्वेच्छाचारपरायण जीवोंकी अपेक्षा निष्काम कर्मी श्रेष्ठ हैं; उन सदा-सर्वदा सत्कर्मोंमें लगे हुए पुण्यवान कर्मकाण्डियोंकी अपेक्षा तीनों गुणोंसे अतीत ब्रह्मज्ञानी श्रीकृष्णके अधिक प्रिय हैं; ऐसे ब्रह्मज्ञानियोंकी अपेक्षा 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३)

इस उक्तिके अनुसार ज्ञानके प्रयासको छोड़कर, केवल भक्तिको ही श्रेष्ठ माननेवाले सनकादि भक्तजन श्रीकृष्णके प्रिय हैं; तथा सब प्रकारके भक्तोंसे, केवल प्रेमकी निष्ठावाले नारद आदि शुद्ध भक्तजन श्रीकृष्णके और भी अधिक प्रिय हैं; उन सब प्रेमी भक्तोंकी अपेक्षा कृष्णगत-प्राण व्रजगोपिकाएँ श्रीकृष्णकी अतिशय प्यारी हैं; उन प्यारी गोपियोंमें भी श्रीमती राधिका जिस प्रकार श्रीकृष्णकी सर्वाधिक—प्राणोंसे भी अधिक प्यारी हैं, उसी प्रकार यह राधाकुण्ड भी श्रीकृष्णका अतिशय प्यारा है। अतः ऐसा कौन-सा सौभाग्यवान-सुचतुर व्यक्ति होगा, जो श्रीराधाकुण्डमें अप्राकृत रूपमें निवास करता हुआ श्रीकृष्णका आठों याम भजन नहीं करेगा? अपितु करेगा ही॥१०॥

उपदेश-प्रकाशिका टीका

श्रीकुण्डस्यैव वरत्वे राद्धान्तपूर्वक हेत्वन्तरमाह—कर्मिभ्यः इति। कर्मिभ्यः काम्यकर्मनिष्ठतया श्रीभगवतो वैमुख्यात् कर्मणा जायते इत्यादिवत् केवलकर्मनिष्ठेभ्यः सकाशात् श्रीभगवतो ब्रह्माख्य सामान्याविर्भाव-सान्मुख्यात् ज्ञानिन एव हरेः प्रियत्वेन व्यक्तिं ययुः। तेभ्योपि ये पूर्वं ज्ञानेन मुक्ताः पुनर्भक्तिप्रधानाः ज्ञानिचराः सनकादयेस्तेभ्योऽपि प्रेमैकनिष्ठा नारदादयः। तेभ्योऽपि ताः श्रीकृष्ण-प्रेमभरादनिर्वाच्याः श्रीव्रजसुन्दर्यः हरेः प्रियतया व्यक्तिं ययुः। तत्रापि सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा इति प्रमाणात् श्रीराधैव श्रीहरेर्निरवधिप्रेमवसतिस्तद्वदेवेयं तदीय सरसी च प्रेष्ठा। यतः सर्वतोऽपि वरिष्ठां तां कः कृती नाश्रयेत् अनन्यत्वेन शरणं न गच्छेदपि तु सर्व एवेत्यर्थः॥१०॥

टीकाका भावार्थ

इस १०वें श्लोकमें श्रीराधाकुण्डका आश्रय लेकर आराधना करनेका एक दूसरा कारण भी दिखला रहे हैं। केवल सकाम कर्ममें निष्ठा रखनेवाले कर्मकाण्डी भगवत्-विमुख होते हैं। ऐसे

कर्मकाण्डियोंकी अपेक्षा भगवान्‌के केवल चिदेकस्वरूपके सामान्य-आविर्भावरूप निर्विशेष-ब्रह्मके प्रति उन्मुख रहनेवाले ज्ञानीजन भगवान्‌के प्रिय हैं। इन ज्ञानियोंकी अपेक्षा निर्विशेष ज्ञानरहित किन्तु भगवत्-ऐश्वर्यज्ञानसम्पन्न सनक, सनन्दन आदि ज्ञानी भक्तजन श्रीहरिके अधिक प्रिय हैं। इन ज्ञानीभक्तोंसे भी केवल प्रेम-निष्ठासम्पन्न श्रीनारद आदि प्रेमी भक्तजन श्रीहरिके और भी अधिक प्रियपात्र हैं। ऐसे प्रेमैकनिष्ठ भक्तोंकी अपेक्षा श्रीकृष्णके प्रति अनिर्वचनीय एवं अपूर्व प्रेमसे परिपूर्ण व्रजकी गोपियाँ श्रीकृष्णकी अतिशय प्यारी हैं। पूर्व कथित 'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्व गोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्त वल्लभा॥' इस शास्त्रीय प्रमाणके अनुसार इन गोपियोंसे भी श्रीमती राधिका ही श्रीकृष्णकी सर्वाधिक प्रियतमा हैं। उसी प्रकार श्रीमती राधिकाके अभिन्नस्वरूप श्रीराधाकुण्ड भी श्रीकृष्णके अतिशय प्रिय और भक्तोंके श्रेष्ठतम वासस्थान है। अतएव ऐसे श्रेष्ठतम स्थानका कौन-सा भजन-चतुर व्यक्ति आश्रय नहीं ग्रहण करेगा? अपितु अवश्य ही आश्रय ग्रहण करेगा॥१०॥

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति

संसारमें जितने प्रकारके भी साधक हैं, उन सबमें भी राधाकुण्डके तटपर वास करनेवाले भजनकारी भगवद्भक्त ही सर्वश्रेष्ठ एवं कृष्णके सर्वाधिक प्रिय हैं, इसका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है। सब प्रकारके कर्मियोंसे भी चिदानुसन्धानकारी ज्ञानीजन कृष्णके प्रिय हैं। सब प्रकारके ज्ञानियोंकी अपेक्षा ज्ञानविमुक्त शुद्धभक्त कृष्णके प्रिय हैं। सब प्रकारके शुद्धभक्तोंमें प्रेमीभक्त कृष्णके प्रिय हैं। सब प्रकारके प्रेमी भक्तोंमें व्रजगोपियाँ कृष्णकी अतिशय प्यारी हैं। इन प्यारी गोपियोंमें भी जिस प्रकार श्रीराधारानी श्रीकृष्णकी प्रियतमा हैं, उसी प्रकार उनका कुण्ड (राधाकुण्ड) भी श्रीकृष्णको अत्यन्त प्रिय है। इसलिए जो परम

सुकृतिसम्पन्न बुद्धिमान व्यक्ति हैं, वे अवश्य ही श्रीराधाकुण्डमें वासकर श्रीकृष्णकी अष्टकालीय सेवा करेंगे॥१०॥

अनुवृत्ति

स्वेच्छाचारी जीवोंकी अपेक्षा सत्त्वनिष्ठ-सत्कर्मी श्रीकृष्णके प्रिय हैं, उन सत्कर्मियोंसे भी त्रिगुणातीत ब्रह्मज्ञानी कृष्णके प्रिय हैं; ऐसे ज्ञानियोंसे शुद्धभक्त श्रीकृष्णके अधिक प्रिय हैं, उन शुद्धभक्तोंसे भी प्रेमीभक्त श्रीकृष्णके और भी अधिक प्रिय हैं, प्रेमीभक्तोंमें व्रजगोपिकाएँ श्रीकृष्णकी और भी अधिक प्रिया हैं, इन व्रजगोपिकाओंमें वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजी कृष्णकी जिस प्रकार सर्वाधिक प्रियतमा हैं, उसी प्रकार श्रीराधाकुण्ड भी श्रीकृष्णका अतिशय प्यारा है। इसलिए सबसे सौभाग्यशाली श्रीकृष्णभक्त ही राधाकुण्डका आश्रय ग्रहण करेंगे॥१०॥

श्रीराधाकुण्डकी महिमा

कृष्णस्योच्चैः प्रणयवसतिः प्रेयसिभ्योऽपि राधा
कुण्डं चास्या मुनिभिरभितस्तादृगेव व्यधायि।
यत् प्रेष्ठैरप्यलमसुलभं किं पुनर्भक्तिभाजां
तत्प्रेमेदं सकृदपि सरः स्नातुराविष्करोति ॥११॥

इति श्रीमद् रूपगोस्वामिना विरचितं श्रीउपदेशामृतैकादशकं समाप्तम्।

अन्वय—राधा (श्रीमती राधिका) कृष्णस्य (श्रीकृष्णकी) उच्चैः (अतिशय) प्रणयवसतिः (प्रीतिपात्र हैं) प्रेयसिभ्योऽपि तथा (एवं अन्य प्रियतमा गोपियोंकी अपेक्षा अधिक प्रियपात्री हैं) अस्या कुण्डं (श्रीमती राधाजीका यह कुण्ड) तादृगेव (श्रीमतीजीके समान ही परमोत्तम है) मुनिभिः अभितः (ऐसा मुनिजनोंने सर्वप्रकारसे विचारपूर्वक) व्यधायि (शास्त्रोंमें व्यक्त किया है) यत् (जो गोपीप्रेम) प्रेष्ठैः अपि (नारदादि जैसे भगवान्‌के अतिशय प्रिय भक्तोंके लिए भी) अलं असुलभं (अत्यन्त दुर्लभ है) किं पुनर्भक्तिभाजं (साधकभक्तोंकी तो बात ही क्या है) तत् प्रेम (उसी प्रेमको) इदं सरः (श्रीराधाकुण्ड) सकृत् अपि (एक बार मात्र) स्नातुः (भक्तिपूर्वक स्नान करनेवाले व्यक्तिके लिए) आविष्करोति (प्रदान करते हैं)॥११॥

अन्य प्रियतमा गोपियोंमें भी श्रीमती राधिका जिस प्रकार श्रीकृष्णकी सबसे अधिक प्रियपात्र हैं, उसी प्रकार यह श्रीराधाकुण्ड भी उनका अतिशय प्रीतिपात्र है; ऐसा मुनिजनोंने सर्वप्रकारसे विचारपूर्वक (पद्मपुराणमें) कहा है। साधकभक्तोंकी तो बात ही क्या है? क्योंकि जो गोपीप्रेम श्रीनारद जैसे भगवान्‌के अतिशय प्रिय भक्तोंके लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है; उसी प्रेमको यह राधाकुण्ड, केवल एक बार भक्तिपूर्वक स्नान करनेवाले व्यक्तिको प्रदान कर देते हैं॥११॥

उपदेश–प्रकाशिका टीका

ननु तदाश्रयात् किं मिलति। तत्र तादृशसिद्धान्तमेवोपसंहरन् ततः प्रेमोपलब्धिमाह—कृष्णस्येति। यत् प्रेम कृष्णप्रियत्वेन ख्यातैर्-नारदादिभिः अलं दुर्लभं तदादीनां तज्जातीयप्रेमासम्भवादिति भावः। तदपि प्रेमकर्मभूतं कर्त्तृभूतं इदं सरः स्नातुः सम्बन्धे आविष्करोति प्रकटयति। तत् को नाश्रयेदिति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥११॥

श्रीचैतन्यकृपा-लेशात् तद्भक्तानां मुदे कृता।
स्वप्राज्ञाद्यनुसारेणेत्युपदेशप्रकाशिका ॥

राधारमणदासेन राधारमण-सेविना।
गोवर्द्धनोपलालस्य तनुजेन कृता त्वियम्॥

इति श्रीउपदेशामृतटीका समाप्ता।

टीकाका भावार्थ

अब यह उत्सुकता होना स्वाभाविक है कि ऐसे सर्वमहिम श्रीराधाकुण्डका अनन्य रूपसे आश्रय लेनेसे किस विशेष वस्तुकी प्राप्ति होती है? वैसे अनन्यभजनका फल सर्वोत्तम कृष्णप्रेमकी प्राप्ति है—इस सिद्धान्तकी पुष्टि करते हुए अपने विषयका उपसंहार कर रहे हैं। जिस प्रेमकी प्राप्ति श्रीकृष्णके अतिशय प्रिय श्रीनारद आदि श्रेष्ठ भक्तोंके लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् व्रजगोपिकाओं जैसे उन्नतोज्ज्वल प्रेमको उन अतिशय प्रियभक्तोंके लिए भी प्राप्त करना केवल दुर्लभ ही नहीं, अपितु असम्भव है; ऐसे प्रेमको श्रीराधाकुण्ड, अपनेमें विशेष रूपसे स्नान करनेवालोंको प्रदान करते हैं। यहाँपर श्रीराधाकुण्ड, स्वयं कर्त्ता अर्थात् देनेवाले हैं तथा प्रेम, कर्म अर्थात् दानका विषय है। ऐसे श्रीराधाकुण्डका कौन आश्रय नहीं करेगा? अर्थात् भजन चतुर चरम प्रेमका अभिलाषी व्यक्तिमात्र अवश्य ही करेगा।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपाका लेशमात्र अवलम्बनकर उनके प्रिय भक्तोंका आनन्दवर्धनके उद्देश्यसे श्रीराधारमणके सेवक

श्रीगोवर्धनलालजीका पुत्र, मैं राधारमण दास अपनी यथासाध्य मतिके अनुसार लिखित, श्रीरूप गोस्वामीपाद विरचित श्रीउपदेशामृतकी 'उपदेश प्रकाशिका' नामक टीका समाप्त करता हूँ॥११॥

इति श्रीउपदेशामृत टीकाका अनुवाद समाप्त।

पीयूषवर्षिणी-वृत्ति

श्रीराधाकुण्डकी स्वाभाविक महिमा बतलाकर उसके द्वारा साधकके चित्तमें दृढ़ता उत्पन्न करनेके अभिप्रायसे इस ग्यारहवें श्लोककी अवतारणा हुई है। श्रीराधिकाजी श्रीकृष्णकी प्रियतमा एवं उनकी प्रियाओंमें सब प्रकारसे श्रेष्ठ हैं। मुनियोंने शास्त्रोंमें उसी प्रकारसे श्रीराधाकुण्डके उत्कर्षका भी वर्णन किया है। केवल साधकोंके लिए ही नहीं, देवर्षि नारद जैसे प्रेमीभक्तोंके लिए भी जो प्रेम अत्यन्त दुर्लभ है, वही प्रेम श्रीराधाकुण्ड अपनेमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेवालेको सहज ही प्रदान करते हैं।

इसलिए श्रीराधाकुण्ड ही समस्त भजनप्रयासियोंके लिए वासयोग्य स्थान है। अप्राकृत जीव, अप्राकृत व्रजमें, अप्राकृत गोपीदेह प्राप्तकर अप्राकृत श्रीराधाकुण्डमें अपनी गुरुरूपा सखीके कुञ्जमें पाल्यदासी भावसे निवास करके नामाश्रयपूर्वक और मनसे अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह द्वारा श्रीकृष्णकी अष्टकालीय सेवामें श्रीमती राधिकाकी परिचर्या करें—यही श्रीचैतन्य चरणाश्रित भक्तजनोंकी भजन चातुरी है॥११॥

इति पीयूषवर्षिणी-वृत्ति समाप्त।

अनुवृत्ति

श्रीमती राधिकाजी श्रीकृष्णकी प्रियतमा और उनकी समस्त प्रियाओंकी शिरोमणिस्वरूप हैं। श्रीमतीजीका कुण्ड भी श्रीमतीजीके समान ही श्रीकृष्णका सर्वोत्तम प्यारा स्थान है—ऐसा भक्त-मुनियोंने वर्णन किया है। साधकभक्तोंका तो कहना ही क्या है? श्रीनारदादि

जैसे भगवान्‌के अतिशय प्यारे भक्तोंके लिए भी जो भगवत्प्रेम अत्यन्त दुर्लभ है, उसी सर्वोत्तम प्रेम (गोपीप्रेम) को यह राधाकुण्ड एक बार स्नान करनेवाले व्यक्तिको सहज ही प्रदान करते हैं। प्रेमपूर्ण श्रीराधाकुण्डमें अप्राकृत वास करनेसे और प्रेमामृत प्लावित श्रीराधाकुण्डमें अप्राकृत स्नान करनेसे अर्थात् प्राकृत जड़-भोगवासनासे उदासीन होकर श्रीमतीजीके ऐकान्तिक आनुगत्यमें मानस-भजन करते-करते इसी जन्ममें अथवा देह-त्यागके पश्चात् अप्राकृत नित्यदेहसे साक्षात् नित्यसेवा परायण होकर श्रीराधाकुण्डमें स्नान करनेवाले ही सर्वोत्तम प्रेम लाभ करते हैं। ऐसे सौभाग्यकी प्राप्ति नारद आदि भगवान्‌के अतिशय प्रेमीभक्तोंके लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है। विषयी लोगोंकी तो बात ही क्या? दास्य, सख्य और वात्सल्य रसाश्रित भक्तोंके लिए भी श्रीराधाकुण्डका स्नान अत्यन्त दुर्लभ है। श्रीराधाकुण्डके अप्राकृत स्नानकी महिमा और अधिक क्या कहूँ? उनमें स्नान करनेवाले श्रीवार्षभानवीकी पाल्यदासी होने तक का सौभाग्य पा लेते हैं॥११॥

श्रीगोविन्ददास, श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके परम प्रिय सेवक थे। वे छायाकी भाँति उनके साथ रहकर बड़े प्रेमसे उनकी सेवा करते थे। साथ ही वे श्रीमन् महाप्रभुजीकी विशेष-विशेष लीलाओंको अपने शब्दोंमें गूँथते भी जाते थे। उनके द्वारा लिखित वे श्लोकसमूह गोविन्द-कड़चाके नामसे प्रसिद्ध हैं। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने उन कड़चोंको श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीसे श्रवणकर श्रीचैतन्यचरितामृतमें अपने शब्दोंमें व्याख्या की है। उन कड़चोंके द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके अप्राकृत चरित्रपर प्रकाश पड़ता है। श्रीजगन्नाथपुरीकी बात है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके भूतलमें अवतरित होनेका प्रयोजन पूर्ण हो चुका है। अब वे अपनी लीलाका संवरण करना चाहते हैं। एक दिन वे अपने अन्तरङ्ग परिकरोंको साथ लेकर समुद्रके किनारे गये। नील समुद्रको देखकर श्यामसुन्दरकी स्मृति जग उठी। वे भाव-विभोर

हो गये। तन–मनकी सुध–बुध खो गयी। भक्तजनोंने बड़े प्रयत्नसे उन्हें सचेत कराया। श्रीगौरसुन्दर उसी समय अत्यन्त धीरे–धीरे उन भक्तजनोंके समीप कुछ उपदेश करने लगे। उस भक्त–समुदायमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके अतिशय प्रिय श्रीरूप गोस्वामी भी उपस्थित थे। उन्होंने उन उपदेशोंको श्लोकोंके रूपमें लिपिबद्ध कर लिया। वे श्लोक ही श्रीउपदेशामृतके नामसे प्रसिद्ध हैं। यह 'उपदेशामृत' साधकोंके लिए जीवनस्वरूप और कण्ठभूषण है। श्रीवृन्दावनके सुप्रसिद्ध श्रीश्रीराधारमणजीके सेवक श्रीराधारमणदास गोस्वामीने श्रीउपदेशामृतके ग्यारह श्लोकोंकी संस्कृतमें एक सुन्दर टीका लिखी है। इस टीकाका नाम 'श्रीउपदेश प्रकाशिका' टीका है। कुछ दिनों बाद कलिके भयङ्कर प्रभावसे प्रेमभक्ति आच्छादित होनेपर कलिहत जीवोंकी दुर्दशा देखकर उनके कल्याणके लिए श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपने प्रिय परिकर श्रीभक्तिविनोद ठाकुरको इस जगत्में भेजा। उन्होंने उपदेशामृतके श्लोकोंकी सरल, सहज और बोधगम्य भाषामें एक संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित व्याख्या लिखी। यह व्याख्या पीयूषवर्षिणी वृत्तिके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीगौरसुन्दर अप्राकृत विप्रलम्भ रसके मूर्त्तिमान विग्रह हैं। उन्होंने सम्भोग रस (मिलन) की पुष्टिके लिए स्वयं विप्रलम्भरसका आस्वादन किया तथा जीव कल्याणके लिए उसकी शिक्षा दी है। निष्कपट साधकोंके लिए शिक्षाओंको ग्रहण करना आवश्यक है। अन्यथा कृष्णप्रेमकी प्राप्ति असम्भव है। आजकल कलि महाराज श्रीगौरभक्तोंका कपट वेश बनाकर आउल, बाउल, नेड़ा, नेड़ी, सहजिया नाम धारणकर कभी मायावाद, कभी गौर नागरी मतवाद, कभी आउल मत, कभी बाउल मत और कभी सहजिया आदि भक्तिविरोधी कुमतोंका बड़े जोरोंसे प्रचार–प्रसार कर और करा रहे हैं। अहो! कलि महाराजका प्रताप तो देखिये, कोई कहता है—मैं स्वयं गौरहरि हूँ, कोई अपनेको जय गुरुदेव बतला रहा है, कोई बाल–योगेश्वर बन रहा है, कोई सैंयाजी बन रहा

है, कोई स्वयं प्रजापति तो कोई महेश एवं रजनीचर बनकर बड़े उत्साहसे कलिके सिखाये हुए जगत् प्रवञ्चनामय अपने कुमतोंका प्रचार कर रहे हैं। उनके योजनाबद्ध प्रचारसे कलि महाराज प्रसन्न होकर अपने आशीर्वादसे उन्हें कनक, कामिनी और प्रतिष्ठासे भरपूर कर रहे हैं। अधिकांश लोग उनसे प्रलुब्ध होकर शुद्धभक्ति, भगवद्भजन छोड़कर नवीन नग्न भोगवादके पथपर अग्रसर हो रहे हैं। वे जड़रसमें इतने प्रमत्त हो रहे हैं कि उन्हें यह पता तक नहीं कि वे सर्वनाशके शिखरपर चढ़ रहे हैं।

हे श्रद्धालु जन! आपलोग उधर न जायें। श्रीश्रीगौरनित्यानन्दके आचरित-प्रचारित विमल कृष्णप्रेमको पानेके लिए श्रीस्वरूप, श्रीरूप, श्रीरघुनाथ, श्रीनरोत्तम ठाकुर आदि महाजनोंके प्रदर्शित भक्तिमार्गपर अविचल रूपसे अवस्थित होकर व्रजमें निवास करते हुए सदा-सर्वदा श्रीराधाकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंका कीर्त्तन और स्मरण करें। गौर-नागरीवाद भक्तिविरोधी मतवाद है। ऐसे-ऐसे कुमतोंसे दूर रहें। प्रेमभक्ति-स्वरूपिणी श्रीविष्णुप्रिया, लक्ष्मीप्रिया और धामस्वरूपिणी नीलादेवी श्रीराधाकृष्ण मिलित तनु श्रीगौरसुन्दरकी नित्य सेवा करती हैं। ऐसा जानकर उनके आश्रयमें व्रजगोपियोंके अनुगामी होकर रात्रिदिन निरन्तर मानससेवा करनेसे श्रीराधाकृष्णकी दुर्लभ प्रेम सेवा भी सुलभ होती है। ठाकुर श्रीभक्तिविनोदजीने श्रीधाम मायापुरको प्रकाशित किया; वहाँ श्रीश्रीगौर-नित्यानन्द, श्रीगौर-गदाधर और श्रीश्रीगौर-विष्णुप्रिया, लक्ष्मी-प्रिया आदि श्रीविग्रहोंकी नित्य सेवा प्रकाशित की। सर्वत्र श्रीगौरनाम, श्रीकृष्णनाम और शुद्धभक्तिका प्रचार किया, शुद्ध भक्ति-ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं, मूल भक्तिग्रन्थोंका भक्तिमूलक अनुवाद, टीका, व्याख्या और भाष्य लिखे। अन्तमें जगत्को भक्तिशून्य देखकर मूढ़ लोगोंकी वञ्चनाके लिए वृद्धावस्थाका छलकर ऊपरसे मौन साधकर मानसी सेवामें निमग्न रहने लगे। जीवोंके दुःखसे द्रवित होकर उन्होंने अश्रुपूरित नेत्रोंसे मेरी ओर देखकर

मुझे श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके परिकरों द्वारा प्रदर्शित शुद्धभक्तिका प्रचार करनेके लिए निर्देश दिया। उन्होंने श्रीउपदेशामृतकी स्वरचित 'पीयूषवर्षिणी-वृत्ति' की 'अनुवृत्ति' लिखनेका भी मुझे आदेश दिया। मैंने उनके श्रीचरणरजको मस्तकपर धारण करके उनके आदेशका पालन किया। किन्तु अभी आठ श्लोकोंकी अनुवृत्ति लिखना समाप्त किया ही था कि उसी समय वे श्रीराधाकुण्डस्थित स्वानन्द-सुखद-कुञ्जकी नित्यलीलामें प्रवेश कर गये। हे श्रीमती राधिकाके निजजन श्रीभक्तिविनोद ठाकुर! आजके दिन इस अनुवृत्तिको समाप्तकर यह दीन-हीन कङ्गाल सेवक आपके कर-कमलोंमें इसे समर्पण कर रहा है। आप प्रसन्न हों, आपकी जय हो।

मैंने आज ४२८ बंगाब्दके अन्तमें २२ हृषीकेश (भाद्रपद) के दिन व्रजपत्तन (चन्द्रशेखर भवन, मायापुर) में श्रीगौरचन्द्रका स्मरण करते हुए अनुवृत्ति समाप्त की।

श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती कृत अनुवृत्ति भाष्य समाप्त।

परिशिष्ट

(श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर विरचित)

भक्तिबाधक षड्दोष

(१) अत्याहार

श्रीरूप गोस्वामीने स्वरचित 'उपदेशामृत' ग्रन्थमें लिखा है—

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति॥

(उपदेशामृत २)

इस श्लोकके गूढ़ अर्थका विचार करना नितान्त आवश्यक है। जो लोग विशुद्ध भक्तिके साधनमें लगना चाहते हैं, उनके लिए इस श्लोकके उपदेशोंका पालन करना बहुत ही जरूरी है। जो लोग इन उपदेशोंका पालन करनेमें शिथिलता करेंगे, उनके लिए हरिभक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। हम उन निष्कपट साधकोंके लिए—जिनके हृदयमें भगवद्भक्ति प्राप्त करनेकी तीव्र आकांक्षा है—श्लोकका तात्पर्य स्पष्टकर लिख रहे हैं। इस श्लोकमें—(१) अत्याहार, (२) प्रयास, (३) प्रजल्प, (४) नियमाग्रह, (५) जनसङ्ग और (६) लौल्य—इन छः प्रकारके भक्ति-बाधक विषयोंका उल्लेख किया गया है। हम क्रमशः इन विषयोंका पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे। इस क्षुद्र निबन्धमें केवल 'अत्याहार' शब्दके अर्थका विवेचन किया जा रहा है।

'अत्याहार' शब्दका अर्थ केवल अधिक भोजन ही नहीं है

'अत्याहार' शब्दका अर्थ केवलमात्र 'अधिक भोजन' ही नहीं है। उपदेशामृत ग्रन्थके प्रथम श्लोकमें इस प्रकार लिखा गया है—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं,
जिह्वा-वेगमुदरोपस्थ-वेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः,
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, जिह्वाका वेग, उदरका वेग और उपस्थेन्द्रियका वेग—जो इन समस्त वेगोंको सह लेता है, विचलित नहीं होता, वह धीर पुरुष इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर भी शासन कर सकता है। यहाँ जिह्वाका वेग—भोज्य वस्तुओंके आस्वादनकी स्पृहाको और उदरका वेग—अधिक भोजनकी स्पृहाको निर्देश करते हैं। यदि द्वितीय श्लोकमें अत्याहार शब्दका भी अर्थ 'अधिक भोजन' ही माना जाये तो 'संक्षिप्त सार संग्रह' ग्रन्थमें द्विरुक्ति दोषकी सम्भावना हो पड़ती है। ऐसी अवस्थामें परम गम्भीर श्रीरूप गोस्वामीके 'अत्याहार' शब्दका कोई दूसरा ही तात्पर्य है, जिसका अनुसन्धान करना पाठकोंका कर्त्तव्य है।

'आहार' शब्दका मुख्य अर्थ भोजनसे ही है, इसमें सन्देह नहीं, तथापि भोजन शब्दसे पाँचों इन्द्रियों द्वारा विषयोंके भोगका भी बोध होता है। चक्षु द्वारा रूप, कर्ण द्वारा शब्द, नासिका द्वारा गन्ध, जिह्वा द्वारा रस और त्वचा द्वारा कोमलता, कठिनता, शीत और उष्ण आदि भोग अथवा भोजन किया जाता है। देहधारी जीवोंके लिए इन प्राकृत विषयोंका भोग करना अनिवार्य है। विषयोंका भोग किये बिना जीवोंकी जीवन-यात्राका निर्वाह होना भी असम्भव है। विषय-भोग त्याग करनेके साथ-ही-साथ जीवोंके शरीरका त्याग भी अनिवार्य है। इसलिए 'विषय-त्याग' की बात कोरी कल्पना भर ही रह जाती है, उसे वास्तविक कार्यके रूपमें परिणत नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्थामें हमारा कर्त्तव्य क्या है?

भक्तिके अनुकूल कर्म द्वारा जीविका निर्वाह करना ही हमारा कर्त्तव्य है

भगवान् अर्जुनको ऐसा करनेके लिए ही उपदेश दे रहे हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३/५–६)

कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें बिना कर्म किये नहीं रह सकता अर्थात् अशुद्ध चित्तवाला मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंका त्यागकर देनेपर भी प्रकृतिजनित गुणों द्वारा उत्तेजित होकर परवश हुआ व्यवहारिक कर्मोंको करता रहता है। अतएव उसके लिए शास्त्रनिर्दिष्ट चित्तशोधक कर्मोंका त्याग करना कर्त्तव्य नहीं है। जिसका चित्त अभी तक शुद्ध नहीं हुआ है, उसके द्वारा अपनी कर्मेन्द्रियोंका हठपूर्वक बाहरसे संयम कर लिये जानेसे भी क्या होगा? वह कर्मेन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहेगा। अतएव वह मूढ़ मिथ्याचारी कहलाता है।

जब कर्मके बिना देह–यात्रा निर्वाह होना भी असम्भव है, तब जीवन धारण करनेके लिए उपयोगी कर्मोंका आचरण करना नितान्त कर्त्तव्य है। परन्तु वे ही कर्म अगर भगवद्भक्तिसे विमुख होकर किये जायें तो बन्धनके कारण बन जाते हैं। अतएव जीवन धारणोपयोगी कर्मोंको भी भगवद्भक्तिके अनुकूल कर लेनेपर ही भक्तियोग होता है।

विषयोंको ग्रहण करनेकी विधि

भगवान् और भी श्रीगीता (६/१६–१७), (५/८–९) में कहते हैं—

यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत सोनेवालेका और न बहुत अधिक जागनेवालेका ही सिद्ध होता है, बल्कि दुःखोंका नाश करनेवाला यह योग तो यथायोग्य आहार–विहार करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने–जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। कर्मयोगी देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी तत्त्वज्ञानके कारण ऐसा मानता है कि "मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ।" यह शरीर ही सब कुछ कर रहा है, जिसमें मैं हूँ। अविद्या द्वारा बँधा हुआ मैं तो केवल इन कर्मोंका निर्धारण और मननमात्र करता हूँ। आत्मयथात्म्य सिद्ध होनेपर प्राकृत वस्तुओंके प्रति कर्त्तापन और भोक्तापनका भाव दूर हो जाता है।

अत्यन्त अधिक भोजन करनेवाले, अत्यन्त कम भोजन करनेवाले, अधिक सोनेवाले और कम सोनेवाले व्यक्तियोंका योग सिद्ध नहीं होता। किन्तु परिमित रूपमें आहार–विहार करनेवाले तथा परिमित रूपमें सोने–जागनेवाले मनुष्योंका ही योग सिद्ध होता है। इसका तरीका यह है कि साधक ऐसी चिन्ता करें कि "मेरी समस्त इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके अर्थोंमें (विषयोंमें) विचरण कर रही हैं। किन्तु मैं इनसे परे शुद्ध आत्मा हूँ।" इस प्रकार विवेकके साथ विषयोंको ग्रहण करना चाहिये।

कर्म और ज्ञानके परित्याग किये जानेपर ही भक्तियोग सिद्ध होता है

यद्यपि यह उपदेश ज्ञानके सम्बन्धमें ही अधिक उपयोगी प्रतीत होता है, तथापि यह भक्तिके अनुकूल भी हो सकता है। गीताके चरम श्लोकमें जो शरणागतिका उपदेश दिया गया है, उसे लक्ष्यकर कर्माङ्गों और ज्ञानाङ्गोंका परित्याग कर देना चाहिये तथा इन्द्रियोंके समस्त विषयोंको भगवान्‌का प्रसाद समझकर स्वीकार करना चाहिये। ऐसा होनेसे भक्तियोग सिद्ध होता है।

युक्त–वैराग्य और जीवन–यात्राकी विधि

अतएव श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥
(भ॰ र॰ सि॰ १/२/१२५–२६)

[अर्थात् कृष्णेतर विषयोंके प्रति आसक्तिरहित होकर एवं कृष्णसम्बन्धमें अतिशय प्रयत्नशील रहकर कृष्णसेवाके अनुकूल विषयोंको ग्रहण करनेका नाम 'युक्त–वैराग्य' है। 'मुमुक्षु' (मुक्तिका इच्छुक) व्यक्ति शास्त्र, श्रीमूर्त्ति, श्रीहरिनाम, महाप्रसाद, गुरु आदि हरिसम्बन्धिनी वस्तुओंको भी पार्थिव वस्तु समझकर उनका परित्याग करते हैं, इसीको 'फल्गु–वैराग्य' कहते हैं।]

उक्त दोनों श्लोकोंका तात्पर्य श्रीलरूप गोस्वामीने यहाँ 'अत्याहार–त्याग' शब्दसे प्रकट किया है। तात्पर्य यह है कि "विषयोंका भोग करूँगा"—इस प्रवृत्तिसे विषयोंको ग्रहण करनेसे वह अत्याहार हो जाता है। किन्तु उन्हीं विषयोंको भगवत्–प्रसाद समझकर भक्तिके अनुकूल परिमित रूपमें ग्रहण करनेसे वह अत्याहार नहीं होता। इन्द्रियोंके विषयोंको भगवत्–प्रसाद मानकर सरलताके साथ स्वीकार करनेसे भक्तिपर्वमें उसीको 'युक्ताहार' कहते हैं। ऐसा होनेसे युक्त–वैराग्य सहज ही साधित हो जाता है। श्रीमन् महाप्रभुकी भी यही आज्ञा है कि "अनासक्त होकर विषयोंका भोग करो और निरन्तर कृष्णनाम ग्रहण करो। उत्तम–उत्तम भोजन और आच्छादनके लिए यत्न न करो। स्वल्पायास द्वारा लब्ध पवित्र भगवत्–प्रसाद ग्रहण करो"—यही भक्तोंकी जीवन–यात्रा निर्वाह करनेकी विधि है। प्रयोजनके अनुसार आहरण करना चाहिये। आवश्यकतासे अधिक या कम आहरण

अर्थात् संग्रह करनेसे साधक रसके वशीभूत होकर अपना परमार्थ गँवायेंगे और आवश्यकतासे कम संग्रह करनेसे भजनोपयोगी इस शरीरकी भी रक्षा न कर पायेंगे।

उपदेशामृतके प्रथम श्लोकमें—जिह्वा और उदरके वेगोंको सहनेके लिए जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि प्राकृत (मायाबद्ध) मनुष्य क्षुधासे कातर होकर अथवा खानेकी अच्छी-अच्छी वस्तुओंको सामने देखकर अत्यन्त व्यग्र होकर खानेके लिए दौड़ता है, यह एक प्रकारका प्राकृत वेग है। जब साधकके हृदयमें ऐसा वेग प्रबल हो तो भक्तिके विचारोंसे उसका शीघ्र ही दमन कर देना चाहिये। फिर द्वितीय श्लोकमें—जो अत्याहार त्याग करनेका उपेदश दिया गया है वह भक्तिसाधनका एक नित्य नियम है।

गृही और गृहत्यागियोंके अत्याहार पृथक्-पृथक् हैं

इसमें एक और बात है। गृही और गृहत्यागी व्यक्तियोंके लिए अत्याहारके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् विचार हैं। कुटुम्बके भरण-पोषणके लिए गृहस्थ व्यक्ति आवश्यकतानुसार सञ्चय कर सकता है तथा इस धर्मसञ्चित और धर्मोपार्जित द्रव्यको खर्चकर भगवान् और भागवतोंकी सेवा, कुटुम्ब भरण, अतिथि-सत्कार तथा अपना जीवन-निर्वाह कर सकता है। गृही व्यक्तियोंको सञ्चय और उपार्जनका अधिकार रहनेपर भी आवश्यकतासे अधिक अर्थ संग्रह करनेके लिए प्रयत्न करनेपर भक्तिके साधनमें और कृष्णकी कृपा प्राप्तिमें बाधा पड़ती है। वैसा अधिक सञ्चय तथा उपार्जन करना—दोनों अत्याहार हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। रही गृहत्यागी साधकोंकी बात, उन्हें कभी भी सञ्चय नहीं करना चाहिये। प्रतिदिन जो भिक्षा मिले, उससे सन्तुष्ट न होनेपर उन्हें अत्याहारका दोष लगता है। अच्छी-अच्छी वस्तुओंको पाकर आवश्यकतासे अधिक भोजन करना भी अत्याहार दोषके अन्तर्गत है। इसीलिए गृही और गृहत्यागी—दोनों प्रकारके वैष्णव साधक

अत्याहारका यथायथ विचार करके उस दोषसे दूर रहकर कृष्णका भजन करेंगे। ऐसा करनेसे वे शीघ्र ही श्रीकृष्णकी कृपा लाभ कर सकते हैं।

(२) प्रयास

'प्रयास' का परित्याग किये बिना भक्तिका आविर्भाव नहीं होता। 'प्रयास' शब्दसे आयास या श्रमका बोध होता है। भगवान्‌के प्रति शुद्धाभक्तिके अतिरिक्त परमार्थ नामक कोई वस्तु नहीं है। भगवान्‌के चरणोंमें शरणागति और आनुगत्य ही भक्तिके लक्षण हैं। ये दोनों जीवोंके स्वभाव-सिद्ध नित्य-धर्म हैं। अतएव भक्ति जीवोंकी स्वाभाविक वृत्ति अथवा सहज धर्म है। सहज धर्ममें प्रयासकी कोई आवश्यकता नहीं होती, तथापि जीवोंकी बद्धदशामें भक्तिके साधनमें प्रयासकी थोड़ी-थोड़ी आवश्यकता होती है। उस मामूली प्रयासके अतिरिक्त समस्त प्रकारके प्रयास भक्तिके प्रतिकूल होते हैं। प्रयास दो तरहका होता है—ज्ञान-प्रयास और कर्म-प्रयास। ज्ञान-प्रयासका फल है—केवलाद्वैतका बोध, जिसे दूसरे शब्दोंमें सायुज्य मुक्ति या ब्रह्मनिर्वाण भी कह सकते हैं।

ज्ञान-प्रयास भक्तिका विरोधी है

ज्ञानका प्रयास परमार्थ-बाधक होता है। वेदोंमें इसके भूरि-भूरि प्रमाण मिलते हैं। मुण्डकोपनिषद्‌में इस कथनकी पुष्टि की गयी है—

नायमात्मा प्रवचननेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(मुण्डक ३/२/३)

—'आत्मा' शब्दसे आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व दोनोंका बोध होता है। यह आत्मा न तो वेद-शास्त्रके अधिक अध्ययन एवं प्रवचनसे प्राप्त होने योग्य है, न ग्रन्थके अर्थको धारण करनेकी

शक्ति—मेधासे अथवा न अधिक शास्त्र-श्रवणसे ही। जो विद्वान इन परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उन परमात्माकी इच्छा या कृपासे ही उनकी प्राप्ति हो सकती है अर्थात् जो परमात्माको अपने प्रभुके रूपमें वरण करते हैं, उनके निकट ही वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। नित्य सिद्ध होनेके कारण अन्य किसी भी साधनसे उनको प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अतएव भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका एकमात्र हेतु है। श्रीमद्भागवतमें भी ज्ञानके प्रयासको नितान्त हेय और परमार्थका बाधक बतलाकर उसे त्याग करनेका उपेदश दिया गया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय-वार्त्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥
(श्रीमद्भा० १०/१४/३)

अर्थात् प्रभो! जो लोग ज्ञानके लिए प्रयत्न न करके अपने स्थानमें ही स्थित रहकर केवल सत्सङ्ग करते हैं और आपके प्रेमी सन्त-पुरुषोंके द्वारा गायी हुई आपकी लीलाकथाका, जो उनके पास रहनेसे अपने-आप सुननेको मिलती है, तन, मन और वचनसे विनयावनत होकर सेवन करते हैं—यहाँ तक कि उसे ही अपना जीवन बना लेते हैं, उसके बिना जी ही नहीं सकते—प्रभो! यद्यपि आप पर त्रिलोकीमें कोई कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकता, फिर भी वे आप पर विजय प्राप्त कर लेते हैं; आप उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं।

आगे देखिये, ज्ञान-प्रयासकी हेयता दिखलाते हुए भागवतकारने एक बड़ी ही सुन्दर उपमाकी अवतारणा की है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते-
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा॰ १०।१४।४)

अर्थात् भगवान्! आपकी भक्ति सब प्रकारके कल्याणका मूलस्रोत—उद्गम है। जो लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिए श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उन्हें सब क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगते हैं और कुछ नहीं—जैसे थोथी भूसी कूटनेवालोंको केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं।

सम्बन्धज्ञान अद्वैत-ज्ञानसे भिन्न और पवित्र होता है

केवलाद्वैतवादरूप ज्ञान सत्यमूलक नहीं है, प्रत्युत यह अद्वैतवादरूप ज्ञान असुरोंको मोहित करनेके लिए आसुर-विधान मात्र है। शास्त्रोंमें जिस सम्बन्धज्ञानकी प्रशंसा की गयी है, वह ज्ञान अद्वैतवादके ज्ञानसे सम्पूर्ण भिन्न है। सम्बन्धज्ञान अतिशय पवित्र और सहज होता है, उसमें प्रयासकी तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। चतुःश्लोकी भागवतमें जिस ज्ञानका उल्लेख किया गया है, वह यही 'सम्बन्धज्ञान अथवा अचिन्त्य-भेदाभेद ज्ञान' है। यह ज्ञान जीवोंके हृदयमें निहित होता है। भगवान् चित्-सूर्य हैं, जीव किरणगत क्षुद्र परमाणु है। भगवान्के आनुगत्यके बिना जीव अपने स्वरूपमें अवस्थित नहीं रह सकता है। इसलिए भगवद्दास्य ही जीवोंका स्वधर्म है।

भक्तिका साधन—प्रयासके अन्तर्गत नहीं

यद्यपि बद्ध दशामें जीवोंका स्वधर्म (भगवद्दास्य) सुप्तप्राय रहता है, एवं साधन द्वारा जाग्रत होता है, तथापि ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डके प्रयासोंकी तरह भक्तिके साधनमें प्रयास नहीं है। एकमात्र श्रद्धापूर्वक श्रीहरिनामका आश्रय लेनेसे ही थोड़े ही समयमें अविद्याका आच्छादन हट जाता है और स्वधर्म-सुख

प्रकट होता है। परन्तु ज्ञानके प्रयासको हृदयमें स्थान देनेसे अधिकाधिक रूपमें कष्ट भोगना पड़ता है। फिर जब सत्सङ्गके प्रभावसे ज्ञान-प्रयास छूट जाता है, तब कहीं साधकके हृदयमें भक्ति-चेष्टा प्रकाशित होती है।

ज्ञानके प्रयासकी गति

श्रीगीतामें भगवान्‌का यह उपदेश है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

भावार्थ यह है कि शरणागतिके लक्षणोंसे युक्त अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धाके साथ जो मेरी उपासना करते हैं, वे युक्ततम हैं अर्थात् सर्वोत्तम योगी हैं। परन्तु इन्द्रियोंके समूहको भलीप्रकार वशमें करके सर्वत्र समबुद्धिसे युक्त होकर जो अक्षर (अविनाशी), मन-बुद्धिसे परे अनिर्देश्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, कूटस्थ, अचल, निराकार और निर्विशेष ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे ज्ञान-प्रयासी हैं। अतः यदि उनके हृदयमें सम्पूर्ण भूतोंके प्रति दयाका भाव रहे तो वे इसी गुणके कारण अनेक परिश्रम और कष्टके बाद भगवद्भक्तोंकी कृपा लाभकर अन्तमें मुझे (कृष्णको) प्राप्त होते हैं। इस शेषोक्त उपासनामें अतिशय कष्ट उठाने पड़ते हैं। साथ-ही-साथ विलम्ब भी बहुत होता है। यह रही, ज्ञान-प्रयासकी गति। अब कर्म-प्रयासकी गतिपर विचार करें।

कर्म–प्रयासका फल

कर्म-प्रयासकी भी वही गति है जो गति ज्ञान-प्रयासकी होती है। इससे भी कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषयमें श्रीमद्भागवतका विचार यह है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

धर्म—वर्णाश्रमके अन्तर्गत कर्मकाण्डीय स्वधर्मका बोधक है। इस स्वधर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेपर भी यदि मनुष्यके हृदयमें भगवत्कथाओंके प्रति अनुरागका उदय न हो तो केवल प्रयास अर्थात् निरा श्रम ही है। अतएव ज्ञान-प्रयासकी तरह कर्म-प्रयास भी भक्तिका विरोधी है।

भक्तिके अनुकूल कर्म—प्रयास नहीं हैं

सिद्धान्त यह है कि कर्म और ज्ञानके प्रयास नितान्त अहितकर हैं, किन्तु जीवन-यात्राका सुचारु रूपसे निर्वाह करनेके अभिप्रायसे यदि कोई भक्त वर्णाश्रमधर्मगत कर्मोंको स्वीकार करते हैं तो वे कर्म भक्तिके अनुकूल होनेसे भक्ति ही माने जाते हैं। इन कर्मोंकी अब कर्मकी संज्ञा नहीं रहती। परिनिष्ठित भक्तजन केवल लोक-संग्रहके लिए भक्तिके अविरोधी कर्मोंका आचरण करते हैं। निरपेक्ष भक्तजन लोकापेक्षा त्यागकर केवल भक्तिके अनुकूल क्रियाओंका ही आचरण करते हैं।

ज्ञान-प्रयास और उसके अन्तर्गत सायुज्य मुक्तिका प्रयास—ये दोनों परमार्थके नितान्त विरोधी हैं। अष्टाङ्गयोगका प्रयास यदि विभूति और कैवल्यको लक्ष्य करता है, तो वह भी विरोधी है। भक्तिसाधक-विधि और अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्धज्ञान जीवोंके लिए अतिशय सहज होनेके कारण 'प्रयासशून्य' कहे गये हैं। इस प्रकार कर्म और ज्ञान उपायस्वरूप तो आदरणीय हैं, किन्तु उपेयके

रूपमें सर्वथा उपेक्षणीय हैं। 'नियमाग्रह' नामक निबन्धमें इसका विस्तृत विवेचन किया जायेगा।

सत्सङ्गके लिए तीर्थयात्रा, वैष्णव–सेवन, अर्चन और सङ्कीर्त्तन आदि व्यर्थ प्रयास नहीं हैं

तीर्थयात्राका परिश्रम भी निरा श्रम–ही–श्रम है, साथ ही वह भक्तिका विरोधी प्रयास भी है। परन्तु वही तीर्थयात्रा यदि सत्सङ्गकी प्राप्तिके लिए कृत हो अथवा कृष्णलीला स्थलियोंमें कृष्णोद्दीपक भावोंके अनुशीलनकी लालसासे हो तो ऐसी तीर्थयात्रा भक्तिका एक अङ्ग है, व्यर्थ–प्रयास नहीं। फिर भक्तिके अङ्गके रूपमें जिन व्रतोंका पालन किया जाता है, वे भी व्यर्थ प्रयास नहीं हैं अथवा वैष्णव–सेवाके लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, वे भी व्यर्थ–प्रयास नहीं हैं, क्योंकि सत्सङ्गकी लालसासे ही असत्सङ्गकी लिप्साका दोष निवारित होता है। अर्चनका प्रयास हृदयका उच्छ्वासरूप सहज धर्म है। सङ्कीर्त्तन आदिका प्रयास केवल खुले हुए हृदयसे प्रभुका नामोच्चारण है—अतः ये नितान्त सहज वस्तुएँ हैं। इसलिए इन्हें प्रयास नहीं कहा जा सकता।

वैराग्यका प्रयास नितान्त अनावश्यक है

वैराग्य–प्रयासकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भक्तिके उदित होनेपर कृष्णेतर वस्तुओंके प्रति साधककी स्वतः विरक्ति पैदा हो जाती है। श्रीमद्भागवतका उपदेश है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/३२/२३)

अर्थात् भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसारसे वैराग्य अर्थात् प्रयासशून्य वैराग्य और अहैतुक–ज्ञान

अर्थात् नित्यसिद्ध भगवद्दास्यात्मक-ज्ञान उत्पन्न करता है। इसलिए कर्म, ज्ञान और वैराग्यके प्रयासोंका परित्यागकर भगवद्भक्तिके साधनमें प्रवृत्त होनेसे भक्तिबाधक ज्ञान, कर्म, योग अथवा वैराग्य साधक जीवको अधःपतित नहीं करते।

भक्तिकी प्रयासशून्यता

अतएव श्रीमद्भागवत (११/२/४२) में "भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।" श्लोकमें यह निरूपण कर दिया गया है कि जो मनुष्य अनन्य भावसे भगवद्भजन करने लगता है उसके हृदयमें भक्ति, सम्बन्धज्ञान और भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य वस्तुओंके प्रति वैराग्य—ये तीनों एक ही समयमें उदित होते हैं। जिस समय भक्त अतिशय दीन-हीन होकर सरलतापूर्वक कृष्णनामका कीर्त्तन और स्मरण करता है, उस समय उसके हृदयमें ये भावनाएँ स्वाभाविक रूपमें उदित होती हैं—"मैं विराट् चेतनका एक क्षुद्र कणमात्र हूँ, मैं कृष्णका नित्यदास हूँ; कृष्ण हमारे नित्य प्रभु हैं, कृष्णके चरणोंमें शरणागति ही मेरा स्वभाव है, यह संसार मेरा पान्थनिवास (धर्मशाला) मात्र है, संसाररूपी पान्थनिवासकी किसी भी वस्तुके प्रति आसक्त होना मेरे लिए हानिकारक है।" इसका परिणाम यह होता है कि अत्यन्त शीघ्र ही साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

विविध प्रकारके प्रयासोंकी तालिका

ज्ञान-प्रयास, कर्म-प्रयास, योग-प्रयास, मुक्ति-प्रयास, संसार-प्रयास, असत्सङ्गका प्रयास—ये सब प्रयास नामाश्रित साधकके लिए विरोधी तत्त्व हैं। इन प्रयासोंसे भजन नष्ट होता है। प्रतिष्ठा प्राप्तिका प्रयास इनसे भी अधिक खतरनाक होता है। यह अत्यन्त हेय होनेपर भी बहुतोंके लिए अपरिहार्य हो पड़ता है। भक्ति द्वारा इसे सर्वतोभावेन दूर करना कर्त्तव्य है। श्रीसनातन गोस्वामीजीने लिखा है—

सर्वत्यागेऽप्यहेयायाः सर्वानर्थभुवश्च ते।
कुर्य्युः प्रतिष्ठाविष्ठाया यत्नमस्पर्शने वरम्॥
(हरिभक्तिविलास)

यह उपदेश अतिशय गम्भीर है। भक्तजन बहुत सावधनीसे इस एकान्त-धर्मका पालन करेंगे।

गृही-वैष्णवोंका प्रयासशून्य भजन

साधकको भक्तिके अनुकूल सहज क्रियाओं द्वारा जीवन-यात्रा निर्वाह करते हुए सम्बन्धज्ञानके साथ हरिनाम-कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये। गृही और गृहत्यागियोंके लिए प्रयासशून्य भजनकी प्रणाली दो प्रकारकी होती है। गृहीव्यक्ति वर्णाश्रमको भक्तिके अनुकूलकर जीवन-यात्रा निर्वाह करता हुआ प्रयासशून्य हुआ भक्तिका साधन करे। सञ्चय और उपार्जन ऐसा होना चाहिये कि कुटुम्बका भरण-पोषण अनायास ही किया जा सके। हरि भजन हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—इसे कभी नहीं भूलना चाहिये। ऐसा होनेसे पतन होनेकी सम्भावना नहीं रहती। सोते-जागते, चलते-फिरते, सुख-दुःखमें सदा सर्वदा भजन होता रहेगा और कुछ ही दिनोंमें उनका भजन सिद्ध हो जायेगा।

त्यागी वैष्णवोंका प्रयासरहित भजन

गृहत्यागी भक्तोंको बिल्कुल सञ्चय नहीं करना चाहिये। नित्यप्रति जो कुछ भिक्षा मिले उसीसे सन्तुष्ट रहकर शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए भक्तिका साधन करना चाहिये। किसी प्रकारके उद्यममें प्रवेश करना दोषजनक है। दीनता और सरलतासे जितना ही अधिक भजन किया जायेगा, कृष्णकी कृपासे कृष्णतत्त्व उतने ही अधिक रूपमें साधकके हृदयमें प्रकाशित होगा।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥
(श्रीमद्भा० १०/१४/८)

हे कृष्ण! जो पुरुष क्षण-क्षणमें बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मनसे भोग लेता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद वाणी और पुलकित शरीरसे अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परम पदका अधिकारी हो जाता है, जैसे पुत्र अपने पिताकी सम्पत्तिका।

ज्ञानादि प्रयासोंसे कुछ भी लाभ नहीं होता। केवलमात्र आपकी कृपासे ही आपको यथार्थ रूपमें जाना जा सकता है। ब्रह्माजी फिर कहते हैं—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥
(श्रीमद्भा० १०/१४/२९)

अतएव दीन-हीन होकर हरिनाम ग्रहणकर भगवत्कृपासे साधकभक्तके हृदयमें सहज ही बिना किसी प्रयासके ही भगवत्-तत्त्व प्रकाशित हो जाता है, जिसे स्वतन्त्र ज्ञानके प्रयासके द्वारा चिरकालमें भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

❀❀❀

(३) प्रजल्प

प्रजल्प किसे कहते हैं?

परस्पर कथोपकथनका नाम जल्पना या प्रजल्प है। वर्त्तमान जगत्में बहिर्मुखता इतनी है कि दूसरोंके साथ वार्त्तालाप करनेमें प्रायः बहिर्मुख जल्पना हो पड़ती है। अतः भक्तिसाधकोंके लिए जल्पना बहुत ही अहितकर होती है। भक्तिके अनुशीलनमें नाना प्रकारकी जल्पनाएँ हो सकती हैं। साधकोंके लिए इस प्रकारकी भक्तिसम्बन्धित जल्पनाएँ श्रेयस्कर होती हैं। श्रीलरूप गोस्वामीने लिखा है—

तथाप्यस्मिन् कदाचिद्धामधीशौ नाम-जल्पनि।
अवद्यवृन्दनिस्तारि-नामभासौ प्रसीदतम्॥
(कार्पण्य-पञ्जिका—१६)

तात्पर्य है कि भगवन्नामका उच्चारण करते-करते यदि जीवनमें नामाभास भी हो जाये तो इस भगवन्नामरूप प्रजल्प द्वारा (नामाभास द्वारा) सभी प्रकारके अनर्थोंका विनाश हो जाता है।

कीर्त्तन, स्तुति, शास्त्र अनुशीलन—ये सभी जल्पना ही हैं। किन्तु जब ये इतर अभिलाषाओंसे शून्य होकर भक्तिके अनुकूल रूपमें अनुष्ठित होते हैं, तब भक्तिके अङ्गस्वरूप हो पड़ते हैं।

अतएव सिद्धान्त यह है कि कृष्णभक्तिके प्रतिकूल समस्त प्रकारकी जल्पनाएँ भक्तिविरोधी होती हैं। साधकको बहुत सावधान होकर ऐसे प्रजल्पोंसे दूर रहना चाहिये।

सन्त महाजनों द्वारा आदृत प्रजल्प ग्रहणीय है

सन्त-महाजनोंका आचरण पूर्ण निर्दोष होता है। अतएव उनके द्वारा आचरित प्रजल्पोंका हमें आदर करना चाहिये तथा स्वयं ऐसे

प्रजल्पोंका हमें आचरण करना चाहिये। कुछ अतिभक्त लोग समस्त प्रकारके प्रजल्पोंको परित्याग करनेका उपदेश देते हैं। किन्तु श्रीरूपानुग वैष्णवोंको श्रीरूपगोस्वामीके अनुगत होकर उनके द्वारा बताये गये साधनपथका सर्वदा अनुसरण करना ही कर्त्तव्य है। यथा—

स मृग्यः श्रेयसां हेतुः पन्थाः सन्तापवर्जितः।
अनवाप्तश्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

हमें उस सन्तापरहित और श्रेयः साधनमार्गका अनुसन्धान करना चाहिये, जिस मार्गपर हमारे पूर्व-पूर्व सन्त-महाजन अनायास ही विचरण करते आये हैं।

व्यास, शुक, प्रह्लाद, श्रीमन् महाप्रभु और उनके पार्षद भक्तोंने हमें जिस मार्गका अनुसन्धान दिया है, वही हमारा महाजन-पन्थ है। इस पन्थको छोड़कर हम नये-नये अतिभक्तोंका उपदेश सुननेके लिए बाध्य नहीं हैं। समस्त महाजनोंने हरिभक्तिके अनुकूल प्रजल्पोंका आदर किया है। हम इसे उपयुक्त स्थलपर दिखलायेंगे।

बहिर्मुख प्रजल्पका प्रकारभेद

बहिर्मुख प्रजल्प ही हरिभक्तिके पथमें बाधक होता है। बहिर्मुख प्रजल्प अनेक प्रकारका होता है—

(१) वृथा गल्प, (२) वितर्क, (३) परचर्चा, (४) वादानुवाद (५) परदोषानुसन्धान, (६) मिथ्या-जल्पना, (७) साधु-निन्दा, (८) ग्राम्य कथा—ये सभी प्रजल्पके अन्तर्गत हैं।

(१) वृथागल्प

वृथागल्प नितान्त अहितकर होता है। भक्तिसाधकोंको वृथागल्प न कर सत्सङ्गमें सर्वदा हरिकथाका श्रवण-कीर्त्तन और निर्जनमें

हरिनामका स्मरण करना चाहिये। गीतामें इस कथनकी पुष्टि इन श्लोकोंसे की गयी है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(गीता १०/८-९)

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(गीता ९/१४)

भक्तिके साधकोंका उपर्युक्त नियमानुसार अनन्य भक्तिका अनुशीलन करना कर्तत्तव्य है। यदि बहिर्मुख लोगोंके साथ व्यर्थ बातोंमें ही दिन-रात बीत गया, तब "मेरे नामका सर्वदा कीर्त्तन करना चाहिये"—भगवान्के इस उपदेशका पालन हम कैसे कर सकेंगे? साधकोंके लिए संवाद पत्रका पाठ करना बड़ा ही हानिकारक होता है। हाँ, यदि उसमें किसी विशुद्धभक्तके सम्बन्धमें कोई लेखादि हो तो उसे पढ़ा जा सकता है। गाँवोंके लोग भोजनके उपरान्त प्रायः धूम्रपान करते-करते दूसरे-दूसरे बहिर्मुख लोगोंके साथ गल्पमें प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोगोंका रूपानुग साधु होना बड़ा ही कठिन होता है। उपन्यास पाठ करना भी वृथागल्पके अन्तर्गत है। हाँ, यदि श्रीमद्भागवतके पुरञ्जनोपाख्यानकी तरह कोई उपन्यास हो तो उसे पढ़नेसे भक्तिमें बाधा नहीं पड़ती, बल्कि उससे लाभ ही होता है।

(२) वितर्क

वितर्क भी एक प्रकारका भक्तिबाधक प्रजल्प है। नैयायिकों और वैशेषिकोंके समस्त प्रकारके तर्क बहिर्मुख विवादमात्र हैं।

उनसे चित्तकी निर्बलता और चञ्चलता बढ़नेके अतिरिक्त कोई सुफल नहीं होता। कठोपनिषद्का कथन है—

नैषा तर्केण मतिरापनेया

जीवोंकी सहज बुद्धिमें सुमति नित्य वर्त्तमान होती है जो भगवान्के चरणकमलोंमें स्वभावतः अनुरक्त होती है। किन्तु दिक्, देश, भ्रम, प्रमादको लेकर वितर्क करते-करते हृदय इतना कठोर हो जाता है कि स्वाभाविक शुद्धमति वहाँसे शीघ्र ही तिरोहित हो पड़ती है। वेदोंमें जिस दशमूलकी शिक्षा दी गयी है, उसके अनुगत होकर तर्क करनेसे मति दूषित नहीं होती। क्या भला है, क्या बुरा है—इस प्रकारका वेदानुगत वितर्क प्रजल्पकी कोटिमें नहीं आता। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने उपदेश दिया है—

अतएव भागवत करह विचार

(चैतन्यचरितामृत)

सम्बन्धज्ञानका निरूपण करनेमें जो कथोपकथन होता है, वह प्रजल्प नहीं है। व्यर्थ तर्क द्वारा जो लोग सभा जय किया करते हैं, उन लोगोंका अपना कोई सिद्धान्त नहीं होता, अतएव तार्किकोंके सङ्गका सर्वथा परिहार करना कर्त्तव्य है। वासुदेव सार्वभौम अपने समयके एक प्रकाण्ड और प्रख्यात मायावादी विद्वान थे। वाद-विवादमें पण्डितोंको परास्त करना ही इनका काम था। किन्तु जबसे इनका श्रीचैतन्य महाप्रभुजीसे सङ्ग हुआ, ये पूर्ण रूपसे बदल गये। इनका वाद-विवादका नशा बिल्कुल दूर हो गया। इन्होंने कहा है कि "जिस मुखसे मैं पहले तार्किक श्रृगालोंके सङ्गमें हुँआ-हुँआ करनेमें ही जीवनकी अमूल्य घड़ियाँ नष्ट करता था, आज उसी मुखसे कृष्ण, हरि आदि भगवान्के सुमधुर नामोंका उच्चारण करता हूँ।"

जो परमार्थ-विचारमें प्रवृत्त हैं, उनके लिए वाराणसीके संन्यासी महोदयका यह हृदयोद्गार सर्वदा स्मरण रखने योग्य है—

परमार्थ-विचार गेल, करि मात्र वाद।
कहाँ मुँइ पाब, कहाँ कृष्णेर प्रसाद॥
(चैतन्यचरितामृत)

वाद-विवाद करते-करते परमार्थका विचार तो विदा हो गया है, अब मैं कृष्णकी कृपा कैसे पाऊँ?

वृथा तर्कोंकी उत्पत्ति ईर्ष्या-द्वेष, दम्भ, अहङ्कार, आत्मप्रतिष्ठासे होती है। कलह-प्रिय व्यक्ति व्यर्थ वितर्कोंमें मत्त हो पड़ते हैं। भक्तिसाधकोंको इस बातसे सावधान रहना चाहिये कि वे भगवत्-तत्त्व और भागवत चरित्रोंके अनुशीलनके समय वृथा तर्कके पचड़ोंमें न पड़े।

(३) परचर्चा

बिना किसी कारणके परचर्चा भक्तिका अत्यन्त विरोधी है। बहुत-से लोग आत्मप्रतिष्ठा स्थापन करनेके लिए परचर्चा किया करते हैं। कोई-कोई स्वभावतः दूसरोंके प्रति ईर्ष्यालु होकर उनके चरित्रकी चर्चा किया करते हैं। इस प्रकार व्यर्थ परचर्चामें जो लोग मस्त रहा करते हैं, उनका चित्त कभी भी भगवान् कृष्णके चरणारविन्दोंको स्पर्श तक नहीं कर सकता, उनमें स्थिर होना तो दूर रहे। इसलिए परचर्चाका परित्याग करना प्रत्येक भक्तिसाधकोंका प्रधान कर्त्तव्य है। किन्तु कुछ परचर्चाएँ ऐसी हैं जो भक्तिके साधनमें अनुकूल होती है। ऐसी परचर्चाएँ बुरी नहीं। परचर्चाका सम्पूर्ण रूपसे त्याग तो केवल वनवासमें ही सम्भव हो सकता है। भक्तिसाधक दो तरहके होते हैं—गृही और गृहत्यागी। गृहत्यागीका विषयोंसे सम्पर्क न रहनेसे वे परचर्चाका सम्पूर्ण रूपसे परिहार कर सकते हैं। किन्तु गृही व्यक्ति उपार्जन, सञ्चय, संरक्षण और कुटुम्बके भरण-पोषण आदि कार्योंसे सम्बन्धित रहनेके कारण परचर्चाका सर्वथा परिहार करनेमें असमर्थ होते हैं। इनके लिए कृष्ण-संसारमें वास करना ही एकमात्र सदुपाय है। समस्त विषय कार्योंको कृष्णसम्बन्धी कर लेनेपर उनकी अनिवार्य

परचर्चाकी जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही परचर्चा करें। अकारण परचर्चासे दूर रहना चाहिये। तब एक बात है, गुरु जब शिष्यको विषयोंकी वास्तविक स्थितिका ज्ञान देनेके लिए उपदेश करते हैं, उसे समय प्रसङ्गवश कुछ-कुछ परचर्चाकी आवश्यकता होती है। क्योंकि उससे उपदेश परिस्फुटित होते हैं। हमारे पूर्व-पूर्व महाजनोंने जिस रूपमें परचर्चा की हैं, उसमें कोई दोष नहीं है। उदाहरणके लिए श्रीशुकदेवजीने विषयी लोगोंके चरित्रकी आलोचना की है, परन्तु उन्हें परचर्चा दोष स्पर्श नहीं करता—

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा॥

देहापत्य कलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥

(श्रीमद्भा॰ २/१/३-४)

राजन्! जो गृहस्थ घरके कामधन्धोंमें उलझे हुए हैं, अपने स्वरूपको नहीं जानते, उनकी सारी आयु यों ही बीत जाती है। उनकी रात नींद या स्त्री-प्रसङ्गमें कटती है और दिन धनकी हाय-हाय या कुटुम्बियोंके भरण-पोषणमें समाप्त हो जाता है। संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठसम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर, पुत्र आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं, परन्तु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल-सा हो जाता है कि दिन-रात उन्हें मृत्युका ग्रास होते देखकर भी नहीं चेतता। श्रीशुकदेवजीने शिष्यको उपदेश करनेके समय प्रसङ्गवश विषयी लोगोंकी जो चर्चा की है वह प्रजल्प नहीं है। ऐसे प्रजल्पसे जगत्का कल्याण होता है। श्रीमन् महाप्रभुजीने भी अपने शिष्योंको उपदेश करते समय असत् वैरागियोंके चरित्रकी अवतारणा की है—

प्रभु कहे, वैरागी करे 'प्रकृति'-सम्भाषण।
देखिते ना पारों आमि ताहार वदन॥

क्षुद्र जीव सब मर्कट-वैराग्य करिया।
इन्द्रिय चराञा बुले प्रकृति सम्भाषिया॥

प्रभु कहे,—मोर वश नहे मोर मन।
'प्रकृति'—सम्भाषी वैरागी ना करे स्पर्शन॥

श्रीचैतन्य महाप्रभुजी कहते हैं—जो वैरागी प्रकृति अर्थात् स्त्रियोंसे बातचीत करता है, मैं उसका मुख नहीं देख सकता। क्षुद्र जीव मर्कट-वैराग्य (दिखावटी वैराग्य) अवलम्बनकर भीतर-ही-भीतर स्त्रियोंसे बातचीत द्वारा अपनी इन्द्रियोंको चराता फिरता है। मेरा मन मेरे अधीन नहीं, वह स्त्रियोंसे सम्भाषण करनेवाले वैरागीका स्पर्श नहीं करना चाहता।

उपदेश और विषय-सिद्धान्तोंके विवेचनके समय उपरोक्त प्रकारके वचनोंका प्रयोग नहीं करनेसे व्यक्ति और समाजका कल्याण नहीं होता। इस उद्देश्यसे यदि हमारे महात्मा गुरुजनोंने ऐसी परचर्चाका आचरणकर जगत्को शिक्षा दी है, तब उनकी शिक्षाका विरोध करनेसे हमारा कैसे मङ्गल हो सकता है? किसी सम्प्रदाय, समाज या साधारणमें प्रचलित कुसंस्कारोंकी आलोचना उपरोक्त अवस्थाओंमें की जानेसे उसे प्रजल्प नहीं कहा जा सकता है। कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेषकी आलोचना हो पड़नेपर भी वह दोषके रूपमें गण्य नहीं होती। परमभागवत मैत्रेय ऋषिने वेण राजाके सम्बन्धमें कुछ ऐसे ही वचनोंका प्रयोग किया है—

इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः।
अनुनीयमानस्तद्याञ्चां न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः॥
(श्रीमद्भा॰ ४/१४/२९)

इस प्रकार विपरीत बुद्धि होनेके कारण वेण राजा अत्यन्त पापी और कुमार्गगामी हो गया था। उसका पुण्य क्षीण हो चुका था, इसलिए मुनियोंके बहुत विनयपूर्वक प्रार्थना करनेपर भी उसने उनकी बातपर ध्यान नहीं दिया।

महर्षि मैत्रेयके लिए ऐसी परचर्चाकी उस समय आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने श्रोताओंके समक्ष ऐसी परचर्चा की थी। उनकी यह परचर्चा वृथा प्रजल्पकी श्रेणीमें नहीं आती। भक्ति साधकोंके कल्याणके लिए प्राचीन इतिहासोंका वर्णन किया गया है। इन इतिहासोंमें दुर्जन एवं असाधु व्यक्तियोंके चरित्रोंकी भी जगह-जगह आलोचना की गयी है। ऐसी आलोचनाएँ कल्याणप्रद और भक्तिके अनुकूल होती हैं। किन्तु जो लोग ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ अथवा प्रतिष्ठा आदि प्रवृत्तियों द्वारा परिचालित होकर परचर्चा करते हैं, वे भक्तिदेवीके चरणोंमें अपराधी हैं।

(४) वाद-विवाद

यह जयकी इच्छासे उत्पन्न होता है। यह नितान्त हेय है।

(५) परदोषानुसन्धान

ऐसा केवल अपनी कुप्रवृत्तिके कारण होता है। इसका सर्वथा परित्याग करना कर्त्तव्य है।

(६) मिथ्या जल्पना

वृथा-गल्पका रूपान्तर मात्र है।

(८) ग्राम्यकथा

गृहत्यागियोंके लिए सर्वतोभावसे परित्याज्य है। गृही व्यक्ति भक्तिके अनुकूल रूपमें कुछ-कुछ स्वीकार कर सकते हैं। इतिहास, पशु-विज्ञान, ज्योतिष तथा भूगोल इत्यादि बहिर्मुख होनेपर अवश्य ही परित्याग किये जाने योग्य हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी की शिक्षा है—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्-कथा
न कथ्यते यद्भगवान्धोक्षजः।

तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्‌गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमःश्लोक-यशोऽनुगीयते ॥
(श्रीमद्भा॰ १२/१२/४९-५०)

जिस वाणीके द्वारा घट-घटवासी अविनाशी भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका उच्चारण नहीं होता, वह वाणी भावपूर्ण होनेपर भी निरर्थक है—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है और उत्तमोत्तम विषयोंका प्रतिपादन करनेवाली होनेपर भी असत्कथा है। जो वाणी और वचन भगवान्‌के गुणोंसे परिपूर्ण रहते हैं, वे ही परम पावन हैं, वे ही मङ्गलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं। जिस वचनके द्वारा भगवान्‌के परम पवित्र यशका गान होता है, वही रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्तकाल तक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लम्बा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिए सूख जाता है।

(७) साधु-निन्दा

साधु-निन्दारूप जल्पना अत्यन्त अहितकर होती है। यदि कोई भक्तिकी आशा रखता है तो उसे यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि मैं जीवनमें कभी भी साधु-सन्तोंकी निन्दा नहीं करूँगा। भगवद्भक्त ही साधु हैं। उनकी निन्दा करनेसे समस्त श्रेय विनष्ट हो जाता है। परम पावन श्रीमहादेवकी निन्दा करके तापसोंमें श्रेष्ठ दक्ष प्रजापतिकी कैसी दुर्गति हुई थी—श्रीमद्भागवत इसका साक्षी है।

महत् व्यक्तियोंकी अवज्ञाका फल कितना भयङ्कर होता है, श्रीमद्भागवतमें देखिये—

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकमाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४/४६)

परीक्षित्! जो लोग महान सन्त-पुरुषोंका अनादर करते हैं, उनका वह कुकर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, कीर्त्ति, धर्म, लोक-परलोक, विषय-भोग और सब-के-सब कल्याणके साधनोंको नष्ट कर देता है।

इस प्रबन्धका सारांश यह है कि भक्तिके साधक भक्तिके अनुकूल समस्त प्रकारके प्रजल्पोंका यत्नपूर्वक परित्याग करेंगे। 'उपदेशामृत' के प्रथम श्लोकमें 'वाचो वेगं' द्वारा जिस वाणीवेगको सहनेके लिए उपदेश दिया गया है, वह केवलमात्र नैमित्तिक वेगमात्र है। प्रजल्पका परित्याग करनेसे वाणी अपने-आप सदाके लिए नियमित हो जाती है। निष्पाप रूपमें जीवन-निर्वाह करनेके लिए वाणीका कम-से-कम प्रयोग करना चाहिये। दूसरे लोगोंकी बातोंको लेकर चर्चा करनेसे वह निरर्थक जल्पना हो पड़ती है। अतएव भगवान्ने उद्धवको उपदेश दिया है—

पर-स्वभाव-कर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्याभिनिवेशतः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२८/२)

जो दूसरोंके स्वभाव और उनके कर्मोंकी प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं, वे असत् विषयोंमें अभिनिवेशके कारण शीघ्र ही अपने यथार्थ परमार्थ-साधनसे च्युत हो जाते हैं।

(४) नियमाग्रह

नियम दो प्रकारके होते हैं—(१) विधि-लक्षण नियम और (२) निषेध-लक्षण नियम। जिन-जिन नियमोंको कर्त्तव्य मानकर पालन करनेके लिए आदेश दिया गया है उन्हें विधि-लक्षण नियम कहते हैं तथा जिन्हें करनेके लिए मना किया गया है, उन्हें निषेध-लक्षण नियम कहते हैं। दोनों प्रकारके नियम ही जीवोंके लिए मङ्गलजनक होते हैं।

बद्धजीव अत्यन्त निकृष्ट अवस्थासे अतिशय उपादेय अवस्था प्राप्त करनेके योग्य होता है। इन दोनों अवस्थाओंके बीच और भी बहुत-सी अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक अवस्था ही एक-एक क्रम-सोपान हैं। ये क्रम-सोपान ही जीवोंके लिए एक-एक विश्राम स्थल हैं। प्रत्येक क्रम-सोपानपर ही पृथक्-पृथक् विधि-निषेधरूप कतिपय नियम निर्धारित किये गये हैं। जीव जिस समय जिस सोपानपर पैर रखकर विश्राम करता है, उस समय उसी सोपानके लिए निर्दिष्ट विधि-निषेधोंका पालन करते-करते ऊपरवाले सोपानपर आरूढ़ होनेकी योग्यता प्राप्त होती है। वैसी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकनेपर वे पदच्युत होकर निम्नस्थ सोपानपर उतरनेके लिए बाध्य होते हैं। इसीका नाम दुर्गति है। उच्च सोपानकी प्राप्तिका नाम सद्गति है।

स्वाधिकारगत निष्ठा गुण है तथा उसे त्याग करना ही दोष है

जिस सोपानपर पैर रखा गया है, उस सोपानसम्बन्धी नियमोंका यथायोग्य पालन करनेका नाम स्वधर्म अथवा स्वाधिकार-निष्ठा है। अपने अधिकारके प्रति निष्ठा ही गुण है और अपने अधिकारगत निष्ठाका परित्याग करनेका नाम ही दोष है। इसके

अतिरिक्त दोष-गुणकी कोई दूसरी परिभाषा नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको उपदेश दिया है—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्॥
(श्रीमद्भा० ११/२१/२, ७)

अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है। तात्पर्य यह कि गुण-दोष दोनोंकी व्यवस्था अधिकारके अनुसार की जाती है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं। देश, काल और वस्तुओंके गुण-दोषोंका विधान भी इसीलिए किया गया है कि कर्मोंमें लोगोंकी उच्छृंखल प्रवृत्ति न हो—मर्यादाका उल्लंघन न होने पाये। इन विधि-निषेधात्मक नियमोंको पुनः दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—नित्य और नैमित्तिक नियम।

नित्य विधि-निषेध

जीव विशुद्ध चित्-वस्तु है। नित्य स्वभावमें अवस्थित रहनेके समय विशुद्ध जीवात्माके लिए जो विधि-निषेधात्मक नियमोंका विधान होता है, उसे नित्य नियम कहते हैं। किन्तु वे संसार-दशा प्राप्त होकर माया द्वारा दी हुई उपाधि द्वारा अपनी सिद्ध अवस्थाके विपरीत जिस दूसरी अवस्थाको प्राप्त हुए हैं, वह अवस्था औपाधिक है। औपाधिक अवस्था नाना प्रकारकी होती है। किन्तु नित्य अवस्था अद्वय और एक है।

नित्य अवस्थामें जीवोंका प्रेम ही—विधि है तथा मत्सरता ही—निषेध है। विधि निषेधात्मक यही नियम जीवोंके नित्य स्वभावके अनुगत होता है। मत्सरताशून्य प्रेममय जीव नित्य-रस

(भगवद्भक्तिरस) का आश्रय है। रस पाँच प्रकारका होनेपर भी एक अखण्ड और चिन्मय तत्त्व है। उस अवस्थाके नियमोंका विचार करना यहाँका विषय नहीं है। यहाँ केवलमात्र यही जान लेना आवश्यक है कि उस अवस्थामें जीवोंकी नित्य स्थिति है।

नैमित्तिक विधि-निषेध

नैमित्तिक नियमसमूह विविध प्रकारके होनेपर भी स्थूल लक्षणोंको देखते हुए समस्त सोपानोंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है। श्रुति, स्मृति और पुराण सभीमें कर्म, ज्ञान और भक्ति—ये स्थूल विभाग दीख पड़ते हैं। प्रत्येक विभागके लिए कुछ विधियाँ और कुछ निषेध निर्दिष्ट हैं। कर्म विभागमें वर्णाश्रमधर्म, इसके अनुगत दस संस्कार तथा आह्निक आदि कर्मसमूह—विधि हैं, पातक और उपपातक आदि—निषेध हैं। ज्ञान-विभागमें संन्यास, त्याग, वैराग्य, चित्-अचित् आलोचना—विधि है, काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म और विषयोंमें आसक्ति—निषेध है। भक्ति-विभागमें उदासीनता एवं भक्तिके अनुकूल भावसे कर्म, ज्ञान विभागके विधि-निषेधोंका पालन एवं उनके द्वारा शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए भगवदनुशीलन ही—विधि है। भगवत्-बहिर्मुख समस्त प्रकारके कर्मों और ज्ञानका त्याग, विषयासक्ति और अन्यान्य भक्ति-प्रतिकूल सिद्धान्तों और क्रियाओंका परित्याग ही इस विभागमें—निषेध है।

बद्धजीवोंका प्रथम सोपान—कर्मकाण्ड

बद्धजीव जिस समय अवैध जीवन अर्थात् अन्त्यज-चरित्रको छोड़कर उन्नत होता है, उस समय वह सबसे पहले कर्मकाण्डरूप सोपानपर पहुँचता है। इस सोपानमें अवस्थित जीव ज्ञान-विभागरूप ऊपरवाले सोपानको लक्ष्यकर निरन्तर वर्णाश्रमधर्मका सुष्ठु रूपसे पालन करेंगे—यही उनके लिए नियम है। चित्-अचित् आलोचना

और अहङ्कार तत्त्वका ज्ञान प्राप्तकर जीवको जब तक भौतिक कर्मोंके प्रति निर्वेद नहीं होता, तब तक वर्णाश्रमधर्मकी निष्ठाका परित्याग करनेसे उन्हें पापका भागी बनना पड़ता है। किन्तु उक्त प्रकारका निर्वेद जिस समय उपस्थित होता है, उच्च कोटिका अधिकार उपस्थित होकर उसकी कर्म-निष्ठाओंको दूर कर देता है। उस समय यदि वह अपने कर्म-अधिकारके नियमोंके पालनमें ही आग्रह रखे तो उसकी उन्नति स्थगित हो जाती है।

द्वितीय सोपान—ज्ञानकाण्ड

उसी प्रकार ज्ञान-विभागरूप सोपानपर अवस्थित व्यक्तिके लिए ज्ञानमें निष्ठा रखना ही नियम है। जब तक भक्ति-सोपानके प्रति रुचि उत्पन्न नहीं होती, तब तक इन्हें ज्ञान-सोपानके लिए निर्दिष्ट नियमोंका ठीक-ठीक पालन करना चाहिये। भक्तिमें अधिकार उत्पन्न होनेके साथ ही ज्ञान-निष्ठाका परित्याग कर देना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाये तो नियमाग्रह दोष द्वारा दूषित होकर उन्नति न कर सकेंगे।

श्रीमद्भागवतकी शिक्षा है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/९)

कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिये, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे विवेकजात वैराग्य न हो जाये। यह वैराग्य उस समय तक कार्यकारी रहेगा, जब तक भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाओंके प्रति श्रद्धा न हो जाये। श्रद्धा ही भक्तिका अधिकारतत्त्व है। यथा—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३१)

जो योगी मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न रहता है उसके लिए ज्ञान अथवा वैराग्यकी आवश्यकता नहीं रहती है। उसका कल्याण तो मेरी भक्ति द्वारा ही हो जाता है। तात्पर्य यह कि ज्ञान और वैराग्यकी निष्ठाएँ होनेपर ही हृदयमें भक्तिकी क्रिया सुष्ठु रूपसे प्रकाशित होती है।

कर्म और ज्ञानकी निष्ठा त्यागकर भक्ति-निष्ठाको उत्पन्न करना ही कर्त्तव्य है

कृष्णप्रेमका मन्दिर श्रीगोलोक वृन्दावनके अति उच्च शिखरपर विराजमान है। वहाँ तक पहुँचनेके लिए चौदह लोकमय प्राकृत कर्मकाण्डीय जगत्‌रूप सोपानको भेदकर वैकुण्ठके ऊपरी भागमें उठना पड़ेगा। कर्म और ज्ञानके सोपानोंके प्रति निष्ठाओंको क्रमशः परित्याग करनेसे भक्ति-सोपानका अधिकार प्राप्त होता है। भक्तिके सोपानोंको अतिक्रम करनेपर प्रेम-मन्दिरका द्वार दिखलायी पड़ता है।

तृतीय सोपान—भक्ति और उसकी क्रमोन्नति

भक्ति-सोपानपर आरूढ़ जीवके लिए श्रद्धा ही—नियम है। सत्सङ्गमें भजन करते-करते अनर्थोंके दूर हो जानेपर वही श्रद्धा निष्ठाके रूपमें प्रकाशित होती है। अनर्थ जितने ही अधिक दूर होते हैं, जीव भक्ति-सोपानपर उतना ही अधिक उन्नतिकी ओर अग्रसर होता जाता है। उसकी निष्ठा रुचिके रूपमें, रुचि आसक्तिके रूपमें तथा आसक्ति भावके रूपमें प्रकाशित होती है। यही भाव रतिके रूपमें सामग्रीकी सहायतासे रस हो पड़ता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जन सम्प्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१४/२६)

मेरी परम पावन लीलाकथाओंके श्रवण-कीर्त्तनसे ज्यों-ज्यों चित्तका मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्म वस्तुके वास्तविक तत्त्वका दर्शन होने लगता है। अञ्जनके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर उनमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है। श्रीरूप गोस्वामीने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थमें इस क्रमको स्पष्ट रूपसे दर्शाया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु १/४/१०)

साधनभक्तिके चार सोपान हैं—श्रद्धा, निष्ठा, रुचि और आसक्ति। इन चारों सोपानोंको अतिक्रम करनेपर प्रेमके द्वारस्वरूप भाव नामक सोपानपर पहुँचा जाता है। प्रत्येक सोपानमें श्रद्धाकी अवस्थाके अनुसार कुछ-कुछ पृथक्-पृथक् नियम हैं। एक-एक सोपानको पीछे छोड़ते हुए आगेके सोपानपर चढ़ना होता है, तब पीछेवाले सोपानके लिए निर्दिष्ट नियमोंका आदर न कर अगले सोपानके लिए निर्दिष्ट नियमोंका आदर करना पड़ता है। जो ऐसा न कर पश्चाद्वर्ती सोपानोंके प्रति नियमाग्रह नहीं छोड़ते, उनके लिए वे नियमसमूह शृंखला बनकर पूर्व सोपानमें ही उन्हें आबद्ध रखते हैं, उन्हें अगले सोपानोंपर अग्रसर नहीं होने देते।

भक्तिमार्गके समस्त विधि-निषेध एक ही प्रधान नियमके अन्तर्गत हैं

भक्तिमार्गके जिन-जिन सोपानोंमें जिन-जिन नियमोंका विधान किया गया है, वे समस्त नियमसमूह एक प्रधान साधारण नियमके अन्तर्गत हैं। वह साधारण नियम इस प्रकार है—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ४२ अध्याय)

कृष्णका निरन्तर स्मरण करना चाहिये—इस मूल विधिसे शास्त्रोंकी समस्त विधियाँ प्रादुर्भूत हुई हैं। कृष्णको कभी नहीं भूलना चाहिये—इस मूल निषेधसे समस्त निषेध नियमोंका प्रादुर्भाव हुआ है। इस मूल विधिको स्मरण रखकर साधक पूर्व विधियोंकी निष्ठाओंको क्रमशः परित्याग करते-करते आगेकी विधियोंका अवलम्बन करेंगे। ऐसा न होनेसे वे नियमाग्रहके दोषमें पतित होकर ऊद्ध्र्वगति प्राप्त करनेसे वञ्चित रहेंगे। प्रत्येक भक्तिसाधकको उक्त बात सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये। इस विषयमें हरिभक्तिविलासका यह उपदेश है—

कृत्यान्येतानि तु प्रायो गृहिणां धनिनां सताम्।
लिखितानि न तु त्यक्तपरिग्रह-महात्मानाम्॥
(ह॰ भ॰ वि॰ २० विलास उपसंहार श्लोक)

हरिभक्तिविलासमें जिन-जिन कृत्योंका समावेश किया गया है, वे सभी प्रायः गृही और धनी साधुओंके सम्बन्धमें लिखे गये हैं। परम विरक्त त्यक्तपरिग्रह महात्माओंके सम्बन्धमें कोई भी नियम नहीं हैं।

अवश्यं तानि सर्वाणि तेषां तादृक्त्वसिद्धये।
प्रागपेक्ष्याणि भक्तिर्हि सदाचारैकसाधना॥
(हरिभक्तिविलास)

यद्यपि त्यक्तपरिग्रह परम विरक्त पुरुषोंके लिए इस ग्रन्थमें एक भी नियम नहीं लिखा गया है तथापि साधकोंको त्यक्तपरिग्रहकी अवस्था प्राप्त करनेके लिए उस अवस्थाको प्राप्त हुए परम-विरक्त साधुपुरुषोंके आचरण ही इस विषयमें एकमात्र सदाचार हैं।

शरणागतिके भेद

श्रद्धा-प्राप्त पुरुषोंका लक्षण यह है कि वे श्रीकृष्णके चरणोंमें शरणागत होते हैं। यह शरणागति गृहस्थ और गृहत्यागीकी अवस्था भेदके अनुसार दो प्रकारकी होती है। हरिभक्तिविलासमें उक्त अवस्थाको प्राप्त गृहीपुरुषोंके पालनीय नियमोंका संग्रह किया गया है। इसके अतिरिक्त शिव चतुर्दशी आदि व्रतसमूह भी इस ग्रन्थमें संग्रहीत हैं। उनमेंसे गृहत्यागी पुरुषोंके लिए जो उपयोगी हैं, गृहत्यागी शरणागत भक्त उनका पालन करेंगे।

अनन्य शरणागत भक्तका लक्षण

जब गृहस्थ और गृहत्यागी दोनों ही साधन विषयमें क्रमशः उन्नति करते-करते अनन्य शरणागत हो पड़ते हैं, तब इन दोनोंके नियम कुछ-कुछ पृथक् हो पड़ते हैं, ऐसी अवस्थामें साधनमें क्रमशः उन्नति होती जाती है तथा श्रीकृष्णकी ऐकान्तिकी शरणागति उपस्थित होती है।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतका विचार इस प्रकार है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१८/२८)

एकान्तितां गतानान्तु श्रीकृष्णचरणाब्जयोः।
भक्तिः स्वतः प्रवर्त्तेत तद्विघ्नैः किं व्रतादिभिः॥
(हरिभक्तिविलास २० विलास)

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३६)

ज्ञाननिष्ठ, विरक्त और मोक्ष आदिकी अपेक्षा न रखनेवाला मेरा भक्त आश्रमोंकी मर्यादामें बद्ध नहीं है। वह तो आश्रमों और

उनके चिह्नोंको छोड़-छाड़कर वेदशास्त्रके विधि-निषेधोंसे परे होकर स्वच्छन्द रूपमें विचरण करता है। श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें जिन्होंने ऐकान्तिकता प्राप्त कर ली है उनके हृदयमें भक्ति स्वयं प्रकाशित होती है अर्थात व्रत और नियम आदिकी अपेक्षा नहीं रहती। व्रत और नियम आदि उनके लिए विघ्नदायक होते हैं। मेरे अनन्य प्रेमीभक्तोंका इन विधि-निषेधोंसे होनेवाले पुण्य और पापोंसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता, क्योंकि वे समदर्शी महात्मा तो बुद्धिसे परमतत्त्वको प्राप्त हो चुके होते हैं।

एवमेकान्तिनां प्रायः कीर्तनं स्मरणं प्रभोः।
कुर्वतां परमप्रीत्या कृत्यमन्यन्न रोचते॥

विहितेष्वेव नित्येषु प्रवर्तन्ते स्वयं हि ते।
इत्याद्येकान्तिनां भाति माहात्म्यं लिखितं हि तत्॥

(हरिभक्तिविलास २०)

एकान्त शरणागत भक्त प्रायः परम प्रीतिके साथ कृष्णकीर्त्तन और कृष्णस्मरण करते हैं। अतः निम्नाधिकारियोंके लिए निर्दिष्ट नियमोंमें उनकी रुचि नहीं होती। कभी-कभी वे स्वेच्छापूर्वक नित्य-विधियोंके पालनमें प्रवृत्त देखे जाते हैं। किन्तु उन्हें कोई नियम बन्धन अथवा नियमाग्रह नहीं होता। इसे इसी उपदेशामृतके आठवें श्लोकमें कहा गया है। एकान्त भक्तोंका यही माहात्म्य है अर्थात् यदि वे अनन्य कृत्योंको न भी करें तो उनका किसी प्रकार लाघव नहीं होगा।

तात्पर्य यह है कि उच्च सोपानस्थ महापुरुष निम्नस्थ सोपानके नियमोंका जो पालन करते हैं, वह अपनी स्वेच्छासे करते हैं। ज्ञानाधिकारी कर्माधिकारके अन्तर्गत वर्णाश्रमका पालन स्वेच्छासे करते हैं। विधि उन्हें इन कर्मोंको करनेके लिए बाध्य नहीं करती। भक्ति-अधिकारी भी उसी प्रकार कर्माधिकार अथवा ज्ञानाधिकारके नियमोंका पालन किसी कारणसे स्वेच्छापूर्वक करते हैं अर्थात् वे उन विधियों और निषेधोंके अधीन न होकर

स्वेच्छापूर्वक उनका पालन करते हैं। उसी प्रकार परमोच्च भक्त्यधिकारी एकान्त भक्त भी कर्म, ज्ञान और साधारण साधनभक्तिके नियमोंका पालन करते हुए भी नियमाग्रही नहीं कहे जा सकते हैं, वे तो ऐसा करते हुए भी स्वाधीन भावसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंके एकान्त भजनमें ही प्रवृत्त रहते हैं। जो साधक नियमाग्रहका परित्याग करते हैं और स्वतः प्रवृत्त होकर नियमोंका पालन करते हैं, वे अत्यन्त शीघ्र ही उन्नतिके पथपर अग्रसर हो पड़ते हैं।

नियमाग्रहके सम्बन्धमें ठाकुरके उपदेश

उपदेश यह है कि अपने-अपने अधिकारगत नियमोंका पालन करते-करते साधकोंको उच्च सोपानका अधिकार प्राप्त होता है। तब उनका पूर्व नियमोंके पालनमें आग्रह नहीं रहता। साधकमात्र इस उपदेशको सर्वदा स्मरण रखकर श्रीकृष्ण स्मरण और कीर्त्तन लक्षणयुक्त भजनके प्रति लक्ष्य रखते हुए क्रम सोपानोंका अतिक्रम करेंगे।

(५) जनसङ्ग

'जन' शब्दसे स्त्री-पुरुष मानवमात्रका बोध होता है। श्रीरूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थमें लिखा है—"साधौ सङ्गः स्वतो वरे" अर्थात् साधकको अपनेसे श्रेष्ठ सन्तोंका सङ्ग करना चाहिये। भक्तिसाधक स्वभावतः कर्मी और ज्ञानीसे सब विषयोंमें उन्नत होता है। गीतामें कहा गया है—

येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
(गीता ७/२८)

भक्तजन श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें शरणागत होकर पाप-पुण्यरूप द्वन्द्वके मोहसे छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए स्वभावतः ही वे पवित्र कर्मोंको करनेवाले होते हैं। उनमें पापकी प्रवृत्ति नहीं होती। वे कर्मियों और ज्ञानियोंकी भाँति अल्पज्ञ नहीं होते, क्योंकि वे लोग सर्वज्ञ ईश्वरके आश्रित होते हैं। जन्म-जन्मान्तरोंकी सुकृतियोंके फलस्वरूप कृष्णकी भक्तिमें श्रद्धा होती है। अतएव भक्तजन पुण्यकर्मी होते हैं—इसमें सन्देह ही क्या है? श्रद्धा उत्पन्न होनेपर सत्सङ्गके प्रति स्वाभाविक रुचि होती है। सत्सङ्गसे क्या नहीं प्राप्त होता? भगवान् स्वयं सत्सङ्गकी महिमा बतलाते हैं—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥
(आदिपुराण)

केवल मेरा भक्त होनेसे ही भक्त नहीं हुआ जाता। मेरे भक्तोंका भक्त ही श्रेष्ठ भक्त है। वह मेरा बड़ा प्रिय होता है।

सत्सङ्गकी आवश्यकता

अब सत्सङ्गकी आवश्यकताके सम्बन्धमें कहते हैं—

दर्शनस्पर्शनालापसहवासादिभिः क्षणात्।
भक्ताः पुनन्ति कृष्णस्य साक्षादपि च पुक्कशम्॥

कृष्णके भक्तोंका क्षण भरका दर्शन, स्पर्शन, आलाप अथवा सङ्ग चाण्डालको भी पवित्र कर देता है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/५/३२)

जो लोग अकिञ्चन भगवत्प्रेमी महात्माओंके चरणोंकी धूलिको परमार्थ मानकर वरण नहीं करते, उनकी बुद्धि समस्त अनर्थोंके नाशक भगवच्चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती।

भगवद्भक्तोंके सङ्गके अभावमें नीच पुरुषोंके हृदयमें भक्तिका सञ्चार नहीं हो सकता। साधकोंके लिए सत्सङ्ग नितान्त आवश्यक है। अतएव 'जनसङ्ग' शब्दसे यहाँ भक्तिहीन पुरुषोंका सङ्ग ही समझना चाहिये।

असत्सङ्ग त्याग करनेकी आवश्यकता

श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिके अङ्गोंमें बहिर्मुखजनका सङ्ग त्याग करनेका विधान किया है—

सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः।
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

जो कृष्णभक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम बहिर्मुख व्यक्तियोंका सङ्ग परित्याग करना चाहिये। अर्थात् बहिर्मुख लोगोंके साथ दान और प्रतिग्रह, गोपनीय तत्त्व कथन और श्रवण तथा

भोजन करना और कराना भक्तिकी इन क्रियाओंका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। लौकिक व्यवहारके लिए परस्पर कथोपकथनको 'सङ्ग' नहीं कहते हैं। बल्कि सङ्ग तब होता है, जब वे व्यवहार किसी व्यक्तिके साथ प्रीतिपूर्वक किये जाते हैं।

प्रत्येक भक्तिसाधकको यह जान लेना आवश्यक है कि भगवद्विमुख जन कितने प्रकारके होते हैं? इसलिए इच्छा न होते हुए भी ऐसे लोगोंकी संख्या दी जा रही है। ये लोग सात प्रकारके होते हैं—

(१) मायावादी या नास्तिक
(२) विषयी
(३) विषयी-सङ्गी
(४) योषित्
(५) योषित्-सङ्गी
(६) धर्मध्वजी
(७) दुराचारी मूढ़बुद्धिवाला अन्त्यज

(१) मायावादी और नास्तिक

मायावादी भगवान्के नित्यस्वरूप, नाम, रूप, गुण, लीला और शक्तिको स्वीकार नहीं करते तथा जीवतत्त्वको मायिक तत्त्व मानते हैं। इसलिए उनके अनुसार जीवोंकी नित्य सत्ता नहीं होती। वे लोग भक्तिको भी नित्य तत्त्व स्वीकार नहीं करते बल्कि उसे ज्ञान प्राप्तिका एक अनित्य उपायमात्र मानते हैं। मायावादियोंके सम्पूर्ण सिद्धान्त शुद्धभक्तितत्त्वके विरुद्ध हैं। अतः मायावादियोंका सङ्ग करनेसे भक्ति क्रमशः तिरोहित हो जाती है। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

वैष्णव हञा जेवा 'शारीरक-भाष्य' सुने।
सेव्य-सेवक भाव छाड़ि आपनारे 'ईश्वर' माने॥
(चै॰ च॰ अ॰ २/९५)

जो लोग वेदोक्त परमेश्वर तत्त्वको स्वीकार नहीं करते, वे नास्तिक हैं। कुतर्कसे उनका हृदय दूषित हो जाता है। अतएव उनका सङ्ग करनेसे भक्तिका क्षय होता है।

(२) विषयी

विषयी लोगोंका सङ्ग नितान्त हेय होता है। जो लोग विषयोंमें सर्वदा आसक्त रहते हैं, वे परनिन्दा और द्वेष-हिंसामें निरत रहते हैं। वाद-विवाद और विषय-पिपासा ही उनके प्राण हैं। वे जितना ही अधिक विषयोंका भोग करते हैं, उनकी भोग-पिपासा उतनी ही अधिक प्रबल होती जाती है। उन्हें कृष्णकी लीलाकथाओंके श्रवण-कीर्त्तनका अवसर नहीं मिलता। वे लोग चाहे पुण्यकर्म करें अथवा पापकर्म, आत्मतत्त्वसे सर्वदा दूर रहते हैं। चैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

विषयीर अन्न खाइले मलिन हय मन।
मलिन मन हैले, नहे कृष्णेर स्मरण॥

जो लोग जीवन-यात्राका निर्वाह करनेके लिए विषयोंको बाह्यतः स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्तःकरणसे आत्मतत्त्वका ही सदा मनन किया करते हैं, वे कर्मफलमें आसक्त विषयी व्यक्तियोंकी श्रेणीसे बहुत ऊपर होते हैं।

(३) विषयी-सङ्गी

विषयी और विषयी-सङ्गी दोनों भगवत्-विमुख होते हैं। विषयीजनका सङ्ग करनेवाला व्यक्ति प्रकृत विषयी होता है, क्योंकि वह सर्वदा विषयोंका ही चिन्तन करता रहता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं उतने विषयी नहीं होते, किन्तु विषयी लोगोंके सङ्गमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है। ऐसे लोगोंका भी सङ्ग नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये लोग शीघ्र ही विषयी हो पड़ते हैं। विषयी और विषयी-सङ्गी दो प्रकारके होते हैं—(१) जिन्होंने भगवान्‌को अपने विषयका अङ्ग बना लिया है तथा (२) जो

भगवान्के लिए समस्त विषयोंको करते हैं। इनमें प्रथमोक्त प्रकारके विषयीसे द्वितीय प्रकारके विषयीका सङ्ग कुछ श्रेष्ठ है। पुण्यमय विषयोंका भोग करनेवाले विषयीजन पापयुक्त विषयीजनोंसे श्रेष्ठ होनेपर भी जब तक कृष्णके उन्मुख नहीं होते, तब तक साधकभक्तको उनका सङ्ग नहीं करना चाहिये। वैराग्यका बाना पहन लेनेसे ही विषयोंके प्रति स्वाभाविक विरक्ति नहीं होती, क्योंकि वैरागीजन भी बहुधा विषयोंका संग्रह करते देखे जाते हैं। दूसरी तरफ विषयोंसे घिरे हुए विषयी जैसे प्रतीत होनेवाले भी अन्दरमें युक्त वैराग्यका अवलम्बन करते हुए भगवद्भजनमें विभोर रहते हैं। इन सब विषयोंका विवेचन करते हुए साधक-जन विषयी और विषयी-सङ्गीका सङ्ग परित्यागकर एकान्तमें अथवा सौभाग्यसे सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर सत्सङ्गमें भजन करेंगे।

(४-५) योषित् और योषित्-सङ्गी

साधक पुरुषोंके लिए स्त्रीसङ्ग और स्त्रियोंके लिए पुरुषोंका सङ्ग अत्यन्त हानिकारक होता है। इसलिए इनका वर्जन करना उचित है। स्त्री या पुरुष दो प्रकारके होते हैं। जिस पुरुषके साथ जिस स्त्रीका विधिवत् विवाह हुआ है, उन्हें परस्परके संस्पर्श और वार्त्तालापसे पाप नहीं लगता, बल्कि शास्त्रानुमोदित संस्पर्श और सम्भाषणसे पुण्य ही होता है। किन्तु वे ही व्यवहार जब परस्पर आसक्त होकर कर्त्तव्य क्षेत्रकी सीमासे बाहर हो जाते हैं, तब ऐसे व्यवहारोंको योषित्-सङ्ग अर्थात् स्त्रीसङ्ग या पुरुषसङ्ग कहते हैं। जो भगवद्भजन करते हैं या करना चाहते हैं, उनके लिए ऐसे सङ्ग अतीव हानिकारक होते हैं। यदि उनमेंसे एकमें सङ्ग दोष उत्पन्न हो जाता है, तो दूसरेके लिए वह बाधास्वरूप हो जाता है। पत्नी यदि भक्तिके साधनमें पतिकी सहायता करती है, तब उसके सङ्गको योषित्-सङ्ग नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि पत्नी साधनमें बाधा देती है, तब ऐसी पत्नीका सङ्ग यत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिये। श्रीरामानुजाचार्यकी पत्नी बड़ी ही कर्कश

स्वभावकी थी। वह श्रीरामानुज आचार्यके भक्ति कार्यमें बहुत ही बाधा डालती थी। रामानुजने पहले-पहले उन्हें सुधारनेका बड़ा ही प्रयत्न किया, किन्तु सफल न होनेपर अन्तमें वे घर-बार और पत्नीको छोड़-छाड़कर श्रीरङ्गम् चले गये। श्रीरामानुजाचार्यका आदर्श चरित्र हमारे लिए अनुसरणीय है। कुछ लोग विवाह न होनेपर भी पराई स्त्रियोंसे अवैध सम्भाषण आदि किया करते हैं, उनका यह व्यवहार योषित्-सङ्ग (स्त्रीसङ्ग) है। यह अतिशय गर्हित कार्य है। इस प्रकारसे विचारपूर्वक योषित्-सङ्ग और योषित्-सङ्गियोंका सङ्ग परित्याग करना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

त तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित् सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/३१/३५)

पूर्वोक्त अवस्थामें यदि गृहीसाधक सहधर्मिणीका संस्पर्श करता है अथवा उससे सम्भाषण करता है, तो उसका ऐसा कार्य भक्ति विरोधी नहीं होगा। दूसरी तरफ गृहत्यागीको किसी भी हालतमें किसी भी स्त्रीका संस्पर्श नहीं करना चाहिये और न उसके साथ सम्भाषण करना चाहिये।

(६ क) धर्मध्वजी

जो धर्मके बाहरी चिह्नोंको धारण करते हैं, किन्तु धर्मका पालन नहीं करते, ऐसे धूर्त व्यक्तियोंको धर्मध्वजी कहते हैं। ऐसे लोगोंसे सर्वदा दूर रहना चाहिये। ये लोग दो प्रकारके होते हैं। कपट और मूढ़ अथवा वञ्चक और वञ्चित। कर्म और ज्ञानके क्षेत्रमें भी धर्मध्वजिता अति गर्हणीय व्यापार है। भक्तिके क्षेत्रमें तो यह जीवोंका सर्वनाश तक कर डालती है। विषयी इसकी अपेक्षा अच्छे हैं, परन्तु धर्मध्वजियों जैसा कुसङ्ग इस जगत्में और कोई नहीं है। धर्मध्वजी अपना मतलब साधनेके लिए धर्मके बाहरी चिह्नोंको धारणकर मूर्ख लोगोंको ठगा करते हैं। इनमें कुछ

धूर्त्त गुरु बनते हैं तथा दूसरोंको शिष्य बनाकर कनक-कामिनी और प्रतिष्ठाका संग्रह करते हैं। इन लोगोंके छल प्रपञ्चोंसे सर्वथा दूर रहकर साधकको निष्कपट होकर भगवद्भजन करना चाहिये। निष्कपट भजन ही भगवत प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥
(श्रीमद्भा॰ १/३/३८)

चक्रपाणि भगवान्‌की शक्ति और पराक्रम अनन्त है—उसका कोई थाह नहीं पा सकता। वे सारे जगत्‌के स्रष्टा होनेपर भी उससे सर्वथा परे हैं। उनके स्वरूपको अथवा उनकी लीलाओंके रहस्यको वही जान सकते हैं, जो निरन्तर निष्कपट भावसे उनके चरणकमलोंकी सेवा करते हैं।

पुनः द्वितीय स्कन्धमें कहते हैं—

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥
(श्रीमद्भा॰ २/७/४२)

जो निष्कपट भावसे अपना सर्वस्व उनके चरणोंमें न्यौछावर कर देते हैं, उनपर वे अनन्त भगवान् स्वयं ही दया करते हैं और उनकी दयाके पात्र ही उनकी दुस्तर मायासे पार पा जाते हैं, परन्तु वे नहीं, जो कुत्तों और शृगालोंके भक्ष्य इस शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' का भाव रखते हैं।

(६ ख) धर्मध्वजी (दूसरे प्रकारके)

भीतर-ही-भीतर मायावादके प्रति श्रद्धा रखते हैं और बाहरमें वैष्णवताका भाव प्रदर्शन करते हैं, इसे कपट वैष्णवता कहते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें रामदास नामक एक ऐसे ही वैष्णवके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है—

अष्ट प्रहर राम नाम जपेन रात्रि दिने।
सर्व त्यजि चलिला जगन्नाथ दरशने॥

रामदास यदि प्रथम प्रभुरे मिलिला।
महाप्रभु अधिक ताँरे कृपा ना करिला॥

अन्तरे मुमुक्षु तेहो, विद्या गर्ववान्।
सर्वचित्त-ज्ञाता प्रभु—सर्वज्ञ भगवान्॥

इसलिए शुद्ध रूपमें हरिभजन करनेके लिए धर्मध्वजियोंका सङ्ग परित्याग करना चाहिये। जगत्में अधिकांश लोग इसी श्रेणीके हैं। अतएव जब तक शुद्ध सत्सङ्ग न मिले, तब तक निर्जनमें जीवन-यापन और भजन-साधन करना श्रेयस्कर है।

(७) दुराचारी मूढ़ अन्त्यज

हीन आचार-विचारवाले मूढ़ अन्त्यजोंका सङ्ग करनेसे भक्तिका विनाश होता है। अन्त्यज स्वभाववाले मूढ़ व्यक्ति प्राणी-हिंसा करके मांस-भक्षण करते हैं, मदिरा-पान करते हैं तथा वर्णाश्रमधर्मका पालन नहीं करते, उनका रहन-सहन और विचार बड़े बेढंगे होते हैं। ऐसे दुराचारीके सङ्गसे चित्त मलिन हो जाता है। किन्तु अन्त्यज कुलमें पैदा होकर भी जिनकी भक्तिके प्रति श्रद्धा और प्रगाढ़ रुचि देखी जाये, ऐसे व्यक्तियोंका सङ्ग करना चाहिये। उनके सङ्गसे अशुभ होनेका डर नहीं रहता। यदि पूर्व स्वभाव और संस्कारके कारण इनमें यदा-कदा दुराचार भी दिखलायी दे, तो भी इन्हें साधु ही मानना चाहिये। श्रीगीतामें स्पष्ट शब्दोंमें इसका निर्णय किया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९/३०-३१)

सारांश यह है कि यदि कोई अन्त्यज स्वभाववाला दुराचारी व्यक्ति किसी सुकृतिके कारण अनन्य भक्तिके प्रति श्रद्धालु हो पड़े, तो वह साधु ही माना जाने योग्य है, क्योंकि कुछ ही दिनोंमें वह धर्मात्मा हो जाता है। पहले-पहल कुछ दिनों तक उसमें पूर्व संस्कारोंके कारण कुछ दुराचार भी दिखलायी पड़ सकते हैं, फिर भी उसे साधु ही मानना होगा। ऐसे पुरुषोंका सङ्ग कुसङ्ग नहीं कहा जा सकता है। श्रीमद्भागवतमें उनका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥
(श्रीमद्भा० ११/२०/२७-२९)

भावार्थ यह है कि भगवत्-विमुखजन पापी होनेसे उसका सङ्ग तो दुःसङ्ग है ही, अपितु पुण्यवान होनेपर भी दुःसङ्ग ही है। दूसरी तरफ बाह्यदृष्टिसे पापी जैसा प्रतीत होनेवाले उन व्यक्तियोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग है, जो भगवान्से विमुख नहीं—उन्मुख हैं। महर्षि कात्यायनका कथन है—

वरं हुतवहज्वाला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्॥
(भ० र० सि० १/२/५१ धृत कात्यायनसंहिता वाक्य)

अग्निकी ज्वाला अथवा आजन्म कारावास अच्छा है, किन्तु कृष्णसे विमुख जनोंका सङ्गरूप दुःख न मिले।

भक्तिसाधनमें इन सब बातोंपर सतर्कतासे विचारकर निरपेक्ष भावसे कार्य करनेकी आवश्यकता है।

(६) लौल्य

'लौल्य' शब्दका अर्थ है—चञ्चलता, लोभ अथवा वासना। चञ्चलता दो प्रकारकी होती है—(१) चित्तकी चञ्चलता और (२) बुद्धिकी चञ्चलता। इन्द्रियानुगत मनोवृत्तिका नाम चित्त है। अन्तःकरण अर्थात् मन जिस विषयका चिन्तन करता है, उसी विषयके संसर्गसे चित्तमें राग अथवा द्वेषकी उत्पत्ति होती है। चित्तकी चञ्चलता दो प्रकारकी होती है—(१) रागके अधीन चित्तकी चञ्चलता और (२) द्वेषके अधीन चित्तकी चञ्चलता। गीता (२/६७) में कहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।

भक्ति द्वारा चित्तकी चञ्चलता दूर होना

फिर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३/३४)

इन्द्रिय इन्द्रियोंके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए हैं। साधकको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि वे दोनों ही उसके कल्याण मार्गमें विघ्न

डालनेवाले महान शत्रु हैं। चित्तकी चञ्चलतारूप लौल्यको नियमित करनेके लिए महादेवी श्रीहरिभक्तिका आश्रय लेना चाहिये।

विषयसमूह चित्तकी चञ्चलताके हेतु हैं तथा चित्तकी चञ्चलता भक्तिके साधनमें प्रधान विघ्न है। इसलिए साधकको चाहिये कि वह समस्त विषयोंको भगवत्-सम्बन्धी करके विषयोंके प्रति होनेवाले रागको भगवत्-रागके रूपमें बदल दें। ऐसा होनेसे चित्त भगवत्-रागका आश्रयकर भगवद्भक्तिमें स्थिर हो जाता है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—इन पाँचोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—इन्हें कर्मेन्द्रिय कहते हैं। इन दशों इन्द्रियोंमें भगवद्भावयुक्त करनेसे चित्त भगवद्भक्तिमें स्थिर हो जाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—इन्हें इन्द्रियार्थ या इन्द्रियोंका विषय कहा जाता है। इन विषयोंमें जो अंश भगवद्भक्तिके प्रतिकूल हों, उनके प्रति द्वेषको और जो अंश अनुकूल हों, उनके प्रति रागको (अनुरागको) नियुक्त करना चाहिये। किन्तु बात यह है कि जब तक बुद्धिकी चञ्चलता दूर नहीं होती, तब तक चित्तकी चञ्चलता कैसे दूर की जा सकती है? अतएव सबसे पहले आवश्यकता इस बातकी है कि बुद्धिकी चञ्चलता दूर की जाये। बुद्धि स्थिर और शुद्ध होनेपर वह स्वयं राग-द्वेषको नियमित कर लेगी।

बुद्धि

बुद्धि मनकी उस वृत्तिको कहते हैं, जो सत्-असत्‌की विवेचना करती है। बुद्धि दो प्रकारकी होती है। व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि और बहुशाखाओंवाली (अनिश्चयात्मिका) बुद्धि। निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है। किन्तु अनिश्चयात्मिका बुद्धि बहुत भेदोंवाली और अनन्त प्रकारकी होती है। गीतामें इसे इस प्रकार समझाया गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
(गीता २/४१)

बहुत शाखाओंवाली बुद्धिसे युक्त सकाम व्यक्ति नाना प्रकारके भोगोंकी कामनाएँ करता है। वह ऐहिक और पारत्रिक इन्द्रियसुखोंकी कल्पनामें इतना मस्त हो जाता है कि उस समय वह अप्राकृत जगत्की सत्ता तक को अस्वीकार कर देता है। इसलिए—

भोगैश्वर्य-प्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
(गीता २/४४)

उनकी बुद्धि न तो आत्मतत्त्वमें स्थिर होती है और न नियमित ही होती है। ऐसी बुद्धि समाधिके लिए अनुपयुक्त होती है। जिनकी बुद्धि परमात्मामें अटल स्थित हो जाती है वे ही 'स्थितप्रज्ञ' और 'स्थितधी' कहे जाते हैं।

'स्थितप्रज्ञ' और 'स्थितधी' पुरुषका लक्षण

गीतामें 'स्थितप्रज्ञ' और 'स्थितधी' पुरुषका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
(गीता २/५५-५६)

हे अर्जुन! जिस समय वह पुरुष आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट होकर मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है, उस समय वह 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है और दुःखोंकी प्राप्तिसे जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह

हैं तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसे व्यक्तिको 'स्थितधी' मुनि कहा जाता है।

इस 'उपदेशामृत' के प्रथम श्लोकमें जिन छः वेगोंको दमन करनेका उपदेश दिया गया है, उसकी प्रतिध्वनि हम गीताके उपरोक्त दो श्लोकोंमें पाते हैं।

अब यह जान लेना आवश्यक है कि बुद्धि दो प्रकारकी होती है—एक प्राकृत और दूसरी अप्राकृत। जो वृत्ति मनके अधीन रहकर सत्-असत्का विवेचन करती है, उसे प्राकृत बुद्धि कहते हैं तथा जो वृत्ति आत्माके अनुगत होकर सत्-असत्का विवेचन करती है, उसे अप्राकृत बुद्धि कहते हैं। कोई-कोई इन पृथक्-पृथक् दोनों बुद्धियोंको एक मानते हैं। किन्तु ऐसा समझना भूल है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः॥
(गीता ३/४२)

जड़विषयसे अर्थात् शरीरसे इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इन इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, क्योंकि मनकी प्रेरणासे ही इन्द्रियाँ कर्मोंमें प्रवृत्त होती हैं। मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धि आत्मगत वृत्ति है। अतएव वह मनकी नियन्ता अर्थात् प्रभु है। वही बुद्धि किसी जड़ीय अहङ्कारके अधीन होनेपर विकृत होकर प्राकृतत्व स्वीकार कर लेती है। जीवके कृष्णदासत्वरूप शुद्ध अहङ्कारके अधीन रहनेपर बुद्धि सर्वदा स्वाभाविक रूपमें शुद्ध रहती है। इसलिए क्षेत्रज्ञ पुरुषको श्रुतिमें 'बोद्धा' कहा गया है। शुद्ध बुद्धि चित्-कण जीवकी एक वृत्ति मात्र है। इसलिए जीव बुद्धिसे श्रेष्ठ है।

चिन्मय अहङ्कार और आत्मगत बुद्धिका पराक्रम

जो जीव अपनेको शुद्ध चित्-कण जान लेता है, उस समय—"मैं कृष्णका दास हूँ"—ऐसा चिन्मय अहङ्कार उसमें

स्वाभाविक रूपमें उदित होता है। उस समय बुद्धि जीवके शुद्ध स्वरूपमें अपने शुद्ध रूपसे अवस्थित होकर अचित्-वस्तुका तिरस्कारकर चित्-वस्तुका आदर करती है। तब जीवको कृष्णदास्यके अतिरिक्त कोई भी दूसरी कामना नहीं होती है। वह प्राकृत कामको अत्यन्त तुच्छ मानकर त्याग देता है। ऐसी अवस्थामें जीव 'स्थितप्रज्ञ' और 'स्थितधी' कहलाता है। इस समय चित्-बलका सहारा पाकर बुद्धि स्वयं स्थिर हो जाती है तथा मन और चित्तको नियमितकर अपने अधीन कर लेती है। तब बुद्धिकी आज्ञासे चित्त इन्द्रियोंको नियमितकर उन्हें अपने वशमें कर लेता है तथा इन्द्रियोंके अर्थमें अर्थात् विषयसमूहमें कृष्णदास्यके अनुकूल भावको युक्त कर देता है। भक्तिमार्गमें इसीको 'इन्द्रियनिग्रह' कहते हैं।

इन्द्रियनिग्रहके उपाय

शुष्क ज्ञान और शुष्क वैराग्यके मार्गोंसे इन्द्रियोंका निग्रह सुन्दर रूपसे नहीं होता। गीतामें कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(गीता २/५९)

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषोंके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली विषय-वासना निवृत्त नहीं होती। किन्तु विषय-रस (विषय-वासना) से श्रेष्ठ कृष्णदास्यरूप चिद्रस विषय-वासनारूप क्षुद्र रसको सम्पूर्ण रूपसे दूर कर देता है। इसीको यथार्थ इन्द्रिय-निग्रह कहते हैं अर्थात् इन्द्रियोंको चित्तके अधीन करना और चित्तको नियमितकर बुद्धिके अधीन रखना ही इन्द्रिय-निग्रह है। इस प्रक्रियासे बुद्धि और चित्तका चञ्चलतारूप लौल्य दूर हो जाता है।

बुद्धिको कर्मयोग, ज्ञानयोग और दान आदिसे हटाकर भक्तियोगमें ही स्थिर करना कर्त्तव्य है

बुद्धि चञ्चल होनेसे मन स्थिर नहीं हो पाता। वह कभी कर्ममार्गकी ओर दौड़ता है, तो कभी योगमार्ग और ज्ञानमार्गकी ओर। श्रीमद्भागवतमें एकमात्र भगवद्भक्तिको ही बुद्धि स्थिर करनेका उपाय बतलाया गया है—

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान-वैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३२-३४)

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याण-साधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा परमधाम अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे ही यदि चाहे तो अनायास प्राप्त कर लेता है। मेरे अनन्य प्रेमी एवं धैर्यवान साधुभक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं, यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ, तो भी नहीं लेना चाहते। उन्हें मेरी सेवाका सुख ही स्वाभाविक रूपमें अच्छा लगता है।

इन सब बातोंपर दृष्टि रखकर साधकभक्तको चञ्चलतारूपी लौल्यको दूरकर बुद्धिको भक्तिमें स्थिर करना चाहिये।

लौल्यका दूसरा अर्थ—लोभ

'लौल्य' शब्दका दूसरा अर्थ है—लोभ। यदि लोभको अन्य विषयोंमें नियुक्त किया जाये, तो वह कृष्णके चरणकमलोंके प्रति

कैसे लग सकता है? इसलिए लोभको यत्नपूर्वक श्रीकृष्णके चरणोंके प्रति लगाना ही हमारा परम कर्त्तव्य है। विषय-भोगोंके प्रति लगा हुआ लोभ कर्म-योग अथवा ज्ञानमार्गकी क्रियाओं द्वारा उतना शुद्ध नहीं हो पाता, जितना वह कृष्णसेवाके द्वारा शुद्ध होता है।

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति॥
(श्रीमद्भा॰ १/६/३६)

काम और लोभकी चोटसे बारम्बार घायल हुआ साधकका चित्त श्रीकृष्णसेवासे जैसी प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि आदि योगमार्गोंसे वैसी शान्तिका अनुभव नहीं करता। कृष्णसेवा द्वारा चित्त अनायास और अविलम्ब ही स्थिर हो जाता है, क्योंकि बुद्धिका भगवान्‌में लग जाना ही शम है—

शमो मन्निष्ठता बुद्धेः
(श्रीमद्भा॰ ११/१९/३६)

कृष्णसेवा, वैष्णवसेवा और श्रीभगवन्नामके प्रति लोभ पैदा होनेपर इतर विषयोंके प्रति लोभ नहीं रह सकता। कृष्णके प्रति व्रजवासियोंकी सेवाका भाव देखकर जिस भाग्यवान्‌के हृदयमें उस सेवाके प्रति लोभ पैदा होता है, वे उस दुर्लभ लोभकी कृपासे रागानुगाभक्तिमें अधिकार प्राप्त करते हैं। जिस परिमाणमें रागात्मिका सेवाके प्रति लोभ होता है, उसी परिमाणमें साधकका इतर लोभ दूर हो जाता है। स्वादिष्ट भोजन, पान, शयन तथा धूम्र और मदिरापानमें लोभ रहनेसे भक्ति संकुचित हो जाती है। मदिरा-पान और कनक-कामिनीका लोभ भक्तिका नितान्त विरोधी होता है। जिन्हें शुद्धभक्तिके प्रति लोभकी इच्छा है, वे उक्त भक्तिविरोधी लोभोंका परित्याग करेंगे। विषय-पापमय हो अथवा वह पुण्यमय

हो, इनका लोभ अतिशय मन्द होता है। केवल कृष्णसम्बन्धी लोभ ही कल्याणका हेतु होता है। सन्त महात्माओंका भगवत्कथाके प्रति कैसा लोभ होता है, इसका श्रीमद्भागवतमें सुन्दर चित्रण किया गया है—

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥

हे सूत! पुण्यकीर्त्ति भगवान्‌की लीलाकथाओंको सुननेसे हमें कभी भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि रसज्ञ श्रोताओंको पद-पदपर भगवान्‌की लीलाकथाओंमें नये-नये रसका अनुभव होता है। कृष्णके विषयमें इस लोभका नाम आदर है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

लौल्यका तीसरा अर्थ—वासना

लौल्यका तीसरा अर्थ है—वासना। वासना दो प्रकारकी होती है—भोग वासना और मोक्ष वासना। इन दोनों वासनाओंका पूर्ण रूपसे त्याग किये बिना भक्तिका साधन नहीं होता। श्रीरूपगोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में लिखा है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/१४)

भुक्ति अर्थात् भोगकी कामना और मुक्तिकी स्पृहा—ये दो पिशाचियाँ हैं। ये दोनों पिशाचियाँ साधकके हृदयमें जब तक वास करती हैं, तब तक उसके हृदयमें भक्तिका सुख कैसे उत्पन्न हो सकता है?

भोगकी वासना

भोगकी वासना दो प्रकारकी होती है। एक ऐहिक और दूसरी पारत्रिक। स्त्री-पुत्र, धन-ऐश्वर्य, राज्य, विजय, स्वादिष्ट भोजन,

शयन, स्त्री–सम्भोग, सम्मान आदि लौकिक विषयोंके भोगको ऐहिक भोग कहते हैं। स्वर्ग–गमन, वहाँ अमृतपान, देवतुल्य सुखोंके भोग आदिको पारत्रिक भोग कहते हैं। हृदयमें जब तक इन दोनों प्रकारके भोगोंकी कामनाएँ वर्त्तमान रहती हैं, तब तक साधक निस्वार्थ रूपमें कृष्णका भजन नहीं कर सकता। अतः भोगकी कामनाओंको हृदयसे सम्पूर्ण रूपसे उखाड़ फेंकना चाहिये। ऐसा न होनेसे भक्तिके साधनमें विघ्न होता है।

युक्त–वैराग्य

इसमें ध्यान देनेकी बात यह है कि उपरोक्त समस्त विषय–भोग यदि भक्तिके अनुकूल हों, तभी गृहस्थ–व्यक्ति उन्हें निष्पाप रूपमें ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें इन भोगोंको भोग नहीं कहा जा सकता है, बल्कि उन्हें 'साधकका जीवनोपाय' कहा जा सकता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥

कामस्य नेन्द्रिय प्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
(श्रीमद्भा॰ १/२/९–१०)

भोग–साधक धर्मसे अर्थकी प्राप्ति होती है। अर्थसे काम अर्थात् भोग–विलासकी प्राप्ति होती है। भोग–विलासका फल इस लोक और स्वर्गमें इन्द्रियोंकी तृप्ति करना है। किन्तु अपवर्गरूप धर्मसे जो अर्थ प्राप्त होता है और उस अर्थसे जिस कामकी प्राप्ति होती है, वे अर्थ और काम तत्त्व–जिज्ञासाके सर्वथा अनुकूल होते हैं, क्योंकि धर्म और अर्थका फल भोग–विलास नहीं प्रत्युत् उसका प्रयोजन कृष्णकी कामनाकी पूर्ति करना है और इन कृष्णसम्बन्धी कामनाओंका नाम ही—तत्त्व–जिज्ञासा है, जिसे 'युक्त–वैराग्य' भी कहते हैं।

मोक्षकी वासना

साधकके लिए मोक्षकी वासनाका परित्याग करना भी अत्यन्त अनिवार्य है। मोक्ष पाँच प्रकारका होता है—सालोक्य (समान लोक), सार्ष्टि (समान ऐश्वर्य), सामीप्य (निकट वास करना), सारूप्य (एक-सा रूप) और सायुज्य। भक्तजन सायुज्य मुक्तिको अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य—ये भोग-वासनासे शून्य होनेपर भी वाञ्छनीय नहीं हैं। जीवात्मा भक्तिके बलसे जड़विषयोंसे मुक्त होनेके साथ-ही-साथ मुक्ति प्राप्त करता है। मुक्ति—भक्तिका गौण फल है। कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति ही साधनभक्तिका मुख्य फल है। यहाँपर सार्वभौम भट्टाचार्यके वचनोंको उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता—

'सालोक्यादि' चारि यदि हय सेवा-द्वार।
तबु कदाचित् भक्त करे अङ्गीकार॥

'सायुज्य' सुनिते भक्तेर हय घृणा-भय।
नरक वाञ्छये, तबु सायुज्य ना लय॥

ब्रह्मे ईश्वरे सायुज्य दुई त' प्रकार।
ब्रह्म-सायुज्य हइते ईश्वर-सायुज्य धिक्कार॥

(चै० च० म० ६/२६७-२६९)

सारांश यह है कि भगवान्‌की इच्छासे भक्तका जो जड़ीय सम्बन्ध छेदनरूप मुक्ति होती है, भक्त उसे अनायास ही प्राप्त कर लेता है। इसलिए मुक्तिकी इच्छासे भक्तिकी चेष्टाओंको दूषित करना उचित नहीं है।

इसलिए बहिर्मुख लौल्यको विशेष सावधानीके साथ परित्याग करना भक्तिके साधकोंका एकान्त कर्त्तव्य है।

❀❀❀

भक्तिसाधक षड्गुण

(१) उत्साह

छः विषयोंका वर्णन कर रहे हैं।

> उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्मप्रवर्त्तनात्।
> सङ्गत्यागात् सतोवृत्तेः षडभिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति॥

इन छः विषयोंका विवेचन अलग-अलग रूपमें होना आवश्यक है। अतएव यहाँ उत्साहके सम्बन्धमें लिखा जा रहा है।

उत्साह किसे कहते हैं?

उत्साहके अभावमें भजनक्रिया शिथिल पड़ जाती है। जाड्य, आलस्य या निर्वेदसे शिथिलता पैदा होती है। आलस्य और जड़ताको ही जाड्य कहते हैं। उत्साह पैदा होनेपर आलस्य और जड़ता दूर हो जाती है। चित्-धर्मके विपरीत अवस्थाका नाम 'जड़ता' है। अतएव जड़ताको शरीर या हृदयमें स्थान देनेसे भजन किस प्रकार सम्भव हो सकता है? यत्नके अभावमें उदासीनता पैदा होती है।

भक्तियोगका साधन अनिर्विण्ण (उदासरहित) चित्तसे करना होता है। गीता (६/२३) की यही आज्ञा है—

> तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
> स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

इस श्लोकके भाष्यमें श्रीबलदेव विद्याभूषण महाशयजीने कहा है—"आत्मन्य-योग्यत्व-मननं निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा।" जिस कार्यके लिए अपनेको अयोग्य समझा जाता है, उसी कार्यमें निर्वेद

उपस्थित होता है। उस प्रकारके निर्वेदसे सर्वथा रहित होकर उत्साहपूर्वक भक्तियोगका साधन करना चाहिये। भक्तियोगके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहा गया है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/७-८)

हे उद्धवजी! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख-बुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं।

जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीलाकथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है।

परमार्थ-साधनके प्रकारभेद—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग

परमार्थ-साधक चित्तकी अवस्थाओंके तारतम्यानुसार तीन प्रकारके होते हैं—(१) निर्विण्ण-चित्तवाले, (२) अनिर्विण्ण चित्तवाले और (३) निर्वेद अर्थात् आसक्तिरहित चित्तवाले साधक। योग भी तीन प्रकारका होता है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। निर्विण्णचित्त अर्थात् कर्म और कर्मफलोंसे विरक्त पुरुषोंके लिए ज्ञानयोग श्रेयःस्कर होता है। अनिर्विण्णचित्त अर्थात् कामनायुक्त पुरुष कर्मयोगके अधिकारी हैं तथा अनिर्विण्ण और अनासक्त पुरुषोंको सौभाग्यवश जब मेरी लीला-कथादिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, तब वे भक्तियोगके अधिकारी हैं।

तात्पर्य यह कि जो केवल जड़ीय कर्मोंके प्रति विरक्त तो हो गये हैं, किन्तु जड़ातीत अप्राकृत क्रियाकी अनुभूति प्राप्त नहीं कर सके हैं, उनके चित्तमें बिना कोरी विरक्तिके और रह ही क्या सकता है? निर्भेद ब्रह्मज्ञान ही उनके लिए चरम प्राप्तिका विषय होता है।

जिन्हें न तो जड़ीय कर्मोंके प्रति विरक्ति ही है और न जड़ातीत चिन्मय क्रियाकी अनुभूति ही प्राप्त है, उनके लिए चित्तशुद्धिकारक कर्मयोगके अतिरिक्त और कोई गति नहीं है।

जिन्होंने जड़ीय कर्मोंको अत्यन्त हेय समझ लिया है तथा जिन्हें चित्-क्रियाकी अनुभूति भी प्राप्त हो गयी है, वे समस्त जड़कर्मोंके प्रति उदासीन होकर भी चिदानुभूति उदित करानेके लिए कुछ-कुछ जड़ कर्मोंको सहायकके रूपमें अङ्गीकार करते हैं। किन्तु उन कर्मोंमें उनकी आसक्ति नहीं होती। भक्तिपर्वमें जितनी ही अधिक चिदालोचना होगी, जड़-विषयोंसे उतनी ही अधिक मुक्ति मिलती जायेगी। जड़ विषयोंसे मुक्त होना—भक्तिका अवान्तर फल है। श्रीमद्भागवतमें भक्तियोगियोंका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/२७-२८)

काम (कामना) से कर्मका, निर्वेदसे ज्ञानका और भगवत् सम्बन्धी श्रद्धासे भक्तिका उदय होता है।

भक्तियोगीका आचरण

श्रद्धावान पुरुष स्वभावतः समस्त जड़कर्मोंसे विरक्त होता है। वह केवल उन्हीं कर्मोंको उतनी ही मात्रामें अङ्गीकार करता है,

जो कर्म जितने अंशों तक भगवत्-श्रद्धाके अनुकूल होते हैं। शरीर नहीं रहनेसे भक्तिका साधन नहीं होता। शरीरकी रक्षाके लिए जिन-जिन कर्मोंकी आवश्यकता होती है, उन दुःखात्मक काम-कर्मोंका परित्याग करनेसे शरीरकी रक्षा कैसे हो सकती है? और शरीर नष्ट होनेसे साधन सम्भव नहीं है। इसलिए साधारण लोगोंके लिए दुःखफलजनक कर्मोंको हेय जानकर निन्दा करते-करते अनासक्त भावसे भोगना तथा उनसे जीवन निर्वाह करते हुए दृढ़ विश्वाससे युक्त होकर भक्तियोग द्वारा मेरा भजन करना ही कर्त्तव्य है। जो जड़कर्मोंके द्वारा प्राप्त विषय-भोगरूप फलका अतिशय आदरके साथ भोग करते हैं, वे कर्मासक्त कहलाते हैं। किन्तु कर्मफलके प्रति अनादरका भाव रखकर उनमें स्थित भगवद्भक्तिसाधक वृत्तिका आदर करते हुए जो भक्तिके कर्मोंको स्वीकार करते हैं, वे अनासक्त कहलाते हैं, ये लोग कर्मोंमें तो अनासक्त होते हैं किन्तु भक्तिके विषयमें परम उत्साहसे कार्य करते हैं।

भक्तिसाधकोंकी क्रमोन्नति

अब भगवद्भक्तिके साधकोंकी क्रमोन्नतिके सम्बन्धमें कहते हैं—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य-कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२०/२९-३०, ३५)

इस प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और

मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं, तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्म वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं। जीवोंके लिए यही निरपेक्षतारूप सबसे श्रेष्ठ और महान निःश्रेयस (परम कल्याण) है।

तात्पर्य यह कि हृदयके अन्दर अवस्थित काम-रोग तथा अविद्याको दूर करनेके लिए कोई दूसरी चेष्टा करना निरर्थक है। भगवदनुशीलन रूप भक्तियोगका अवलम्बन करनेसे अविद्या, काल, कर्म, जीवोंका समस्त संशय और कर्म-बन्धन सब कुछ भगवान्‌की कृपासे दूर हो जाता है। किन्तु ज्ञान और कर्मसे ऐसा नहीं होता। इसलिए अन्यान्य कामनाओं और आशाओंका परित्यागकर निरपेक्ष होनेपर हृदयमें शुद्धभक्ति उदित होती हैं।

भजनक्रिया दो प्रकारकी होती है—निष्ठिता और अनिष्ठिता

हममें कर्मका नाश करनेकी शक्ति नहीं है—ऐसा सोचकर हमें निरुत्साहित होना अनुचित है। भक्तिके प्रारम्भमें ही साधकमें उत्साहसे युक्त श्रद्धा होनी आवश्यक है। भजनक्रिया दो प्रकारकी होती है—निष्ठिता और अनिष्ठिता। साधुसङ्गमें श्रद्धापूर्वक भजन करते-करते निष्ठा उत्पन्न होनेपर भजनक्रियाकी संज्ञा 'निष्ठिता' होती है। जब तक निष्ठिता भजनक्रिया आरम्भ नहीं होती, तब तक अनिष्ठिता भजनक्रिया ही चलती रहती है। इस भजनक्रियामें उत्साहमयी, घन-तरला, व्यूढ़-विकल्पा, विषय-सङ्गरा, नियमाक्षमा और तरङ्ग-रङ्गिणी—ये छः अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं।

अनवधानरूप अपराध

'हरिभक्तिविलास' में 'प्रमाद' को एक प्रकारका नामापराध माना गया है। उसी ग्रन्थमें 'प्रमाद' शब्दका अर्थ 'अनवधानता' बतलाया गया है। 'श्रीहरिनाम-न्तिामणि' ग्रन्थमें उक्त अनवधानताके तीन

भेद कहे गये हैं—उदासीनता, जड़ता और विक्षेप। जब तक इन तीनों अनवधानोंसे छुटकारा न मिल जाये, तब तक किसी भी दशामें हरिभजन नहीं हो सकता। दूसरे-दूसरे समस्त अपराधोंके दूर होनेपर भी जब तक अनवधानता वर्त्तमान रहती है, तब तक हरिनाममें कदापि रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती। भजनके प्रारम्भमें यदि उत्साह रहे और वह उत्साह यदि शिथिल न हो जाये, तब नाम-भजनमें कभी भी उदासीनता, आलस्य या विक्षेप पैदा नहीं हो सकते। अतएव उत्साह ही समस्त भजनोंका सहायक है।

उत्साहमयी भजनक्रियासे ही क्रमशः निष्ठा उत्पन्न होती है।

भजनक्रिया उत्साहमयी होनेसे अल्पकालमें ही अनिष्ठिता धर्म दूरकर वह निष्ठा-अवस्थाको प्राप्त हो जाती है। श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

अर्थात् श्रद्धाके उदय होनेपर भजनमें अधिकार उत्पन्न होता है। भजनाधिकार उत्पन्न होनेपर साधुसङ्ग होने लगता है। साधुसङ्गमें भजनक्रिया प्रारम्भ होती है। पहले-पहले भजनमें निष्ठा नहीं रहती, क्योंकि उस समय दूसरे-दूसरे अनर्थ हृदयको पीसते रहते हैं। उत्साहके साथ भजन करनेसे समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं।

उत्साह ही श्रद्धाका जीवन है

'श्रद्धा' शब्दसे विश्वासका बोध तो होता है, किन्तु श्रद्धाका जीवन उत्साह ही है। उत्साहरहित श्रद्धाकी कोई क्रिया नहीं होती। अधिकतर लोग ऐसा सोचते हैं कि वे ईश्वरके प्रति श्रद्धा रखते हैं। किन्तु उस विषयमें उत्साहका अभाव रहनेसे उनकी श्रद्धा

कार्यकारी नहीं होती। अतएव साधुसङ्गके अभावमें उनका भजन नहीं हो पाता।

(२) निश्चय

निश्चयात्मा और संशयात्मा

'श्रीउपदेशामृत' में श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिसाधकोंके लिए निश्चयात्मा होनेके लिए उपदेश दिया है। जब तक निश्चयता नहीं होती, तब तक मनुष्य संशयात्मा रहता है। संशयात्माका कभी भी कल्याण नहीं होता। जहाँ संशय वर्त्तमान है, वहाँ भक्तिके प्रति श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो सकती है? गीतामें कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

सम्बन्धज्ञानसे रहित और अश्रद्धालु संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है। उस संशयात्माके लिए न लोक है और न ही परलोक। उसे कहीं भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जिन्हें 'श्रद्धा' हो गयी है, वे पहले ही निःसंशय हो चुके हैं, क्योंकि 'श्रद्धा' शब्दका अर्थ ही है—दृढ़ विश्वास। जब तक चित्तमें संशय है, तब तक दृढ़ विश्वास कभी पैदा नहीं हो सकता। अतएव श्रद्धालु जीव सर्वदा संशयरहित होता है।

दशमूलतत्त्व

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने वैष्णवमात्रको 'सम्बन्ध', 'अभिधेय' और 'प्रयोजन'—इन त्रिविध तत्त्वोंको जाननेकी आज्ञा दी है। इन त्रिविध तत्त्वोंमें दशमूल विषय हैं, यथा—प्रथम मूल है—वेदशास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। प्रयोजनतत्त्व निरूपण करनेके लिए पहले प्रमाण जानना आवश्यक है। प्रमेय नौ हैं। इन समस्त प्रमेयोंके निर्णयमें भी प्रमाणकी आवश्यकता अनिवार्य है। भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। कोई

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदिको प्रमाण मानते हैं, तो कोई अन्यान्य विषयोंको भी प्रमाणके अन्तर्गत मानते हैं। श्रीमन् महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित वैष्णवशास्त्रोंमें आम्नायसे प्राप्त स्वतःसिद्ध प्रमाणको मुख्य प्रमाण और अन्यान्य प्रमाणसमूहको गौण प्रमाण बतलाया गया है। मुख्य प्रमाण ही ग्रहण करने योग्य है।

अचिन्त्यभाव और चिन्त्यभाव

जगत्में जितने प्रकारके भाव हैं, उन्हें दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—चिन्त्यभाव और अचिन्त्यभाव। प्राकृत भाव अर्थात् जो भावसमूह मानवके चिन्ता-मार्गपर स्वयं उदित होते हैं, उन्हें 'चिन्त्यभाव' कहते हैं। अप्राकृत भाव—जो भाव साधारण मानवके ज्ञानशक्तिसे परे होते हैं उन्हें 'अचिन्त्यभाव' कहते हैं। आत्म-समाधिके बिना अचिन्त्यभावोंको समझा नहीं जा सकता है। अतएव अचिन्त्य विषयमें तर्काश्रित प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी गति नहीं है।

अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
(महाभारत उद्योगपर्व)

प्रकृतिके अन्तर्गत २४ तत्त्वोंके परे जो तत्त्व हैं, वे अचिन्त्यभावमय हैं। उन अप्राकृत भावोंमें प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणोंका प्रवेश नहीं है। उनसे अवगत होनेका एकमात्र उपाय है—आत्म-समाधि। किन्तु आत्म-समाधि साधारण लोगोंके लिए असाध्य है। अतएव जीवोंकी ऐसी दुर्गति लक्ष्यकर परम करुणामय परमेश्वरने वेदशास्त्रोंको प्रकाशित किया है। श्रीमन् महाप्रभुजीने कहा है—

मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति-ज्ञान।
जीवेरे कृपाय कैल कृष्ण वेद-पुराण॥

वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध', 'अभिधेय', 'प्रयोजन'।
'कृष्ण' प्राप्य सम्बन्ध, 'भक्ति' प्राप्येर साधन॥

अभिधेय-नाम—'भक्ति', प्रेम—प्रयोजन।
पुरुषार्थ-शिरोमणि प्रेम—महाधन॥
(चै॰ च॰ म॰ २०/१२२-१२५)

अचिन्त्यभावोंको जाननेके लिए केवलमात्र वेद प्रमाण ही ग्राह्य हैं। किन्तु इसमें एक बात विचारणीय है। 'आम्नाय' शब्दसे "गुरुपरम्परा द्वारा प्राप्त वेद" का बोध होता है। वेदोंमें अनेक प्रकारके उपदेश हैं। भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके उपदेश हैं। समस्त प्रकारके अधिकारोंमें भक्ति-अधिकार ही श्रेष्ठ है। हमारे पूर्व-पूर्व महाजनोंने भजनके प्रभावसे आत्मसमाधि द्वारा वेदोंसे भक्ति-अधिकारकी शिक्षाओंको छाँट-छाँटकर पृथक् रूपमें संग्रह कर रखा है। अतएव पूर्व महाजनोंने जिन वेदवाणियोंको भक्ति-अधिकारके लिए लाभदायक बतलाया है, उन्हें सीखने और आचरणमें लानेकी आवश्यकता है। श्रीगुरुदेवकी कृपासे ही अचिन्त्यभावोंमें प्रवेश किया जा सकता है, अन्यथा उनमें प्रवेश पाना कठिन ही नहीं, नितान्त असम्भव है। श्रीमन् महाप्रभुजीने एक उदाहरण देकर इस विषयको स्पष्ट कर दिया है—

एक दिन एक दरिद्रके घर एक सर्वज्ञ ज्योतिषी आया और बोला—"भैया! तुम इतने दुःखी क्यों हो? तुम्हारे घरमें बहुत-सा पितृधन गुप्त रूपमें गड़ा हुआ है। तुम्हारे पिता तुम्हें उस धनका पता बताये बिना ही कहीं विदेशमें अचानक मर गये हैं। तुम उस गुप्त धनकी खोज करके सुखसे जीवन निर्वाह कर सकते हो।"

"यदि आप उसका पता बतला दें तो बड़ी कृपा होगी। मैं इस बातको जानता तो हूँ, किन्तु स्थान मालूम नहीं है। मैंने बहुत छान-बीन की है, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। आप बता दें तो बड़ा उपकार होगा।"—दरिद्र व्यक्तिने सर्वज्ञ ज्योतिषिके पैरोंपर

गिरकर कहा। ज्योतिषी दयालु था। उसने आश्वासन देते हुए कहा—"कोई चिन्ता मत करो। किन्तु मैं जैसा कहूँगा वैसा ही तुम्हें करना पड़ेगा। तुम्हारे घरके दक्षिण दिशामें बर्रेके विकटसमूह हैं। उधर भूलकर भी न खोदना। अन्यथा खोदनेके साथ ही वे निकलकर भारी उत्पात मचा देंगे और धन भी हाथ नहीं लगेगा। पश्चिममें एक यक्ष है, अतः उधर खोदनेसे वह विघ्न करेगा। उत्तरकी ओर खोदनेसे एक भारी अजगर निकलेगा और तुम सभी लोगोंको निगल जायेगा। हाँ, पूर्वमें थोड़ी-सी जमीन खोदते ही तुम्हें अभिलषित धनकी प्राप्ति हो सकती है।" अब सर्वज्ञ ज्योतिषीकी बातोंको मानकर दरिद्र व्यक्तिने पूर्वमें थोड़ी-सी जमीन खोदी और प्रचुर परिमाणमें गुप्त पितृधन पाकर मालामाल हो गया।

यहाँ शास्त्र सर्वज्ञ ज्योतिषी हैं। मायाबद्ध जीव—दरिद्र व्यक्ति है। शास्त्र मायामुग्ध अज्ञ जीवोंको श्रीकृष्णरूप मूल महाधनका अनुसन्धान देते हैं और उसकी प्राप्तिके लिए उपाय बतलाते हैं। वे कहते हैं—कर्म, ज्ञान, और योग आदि मार्गोंकी तरफ मत झुको, इनकी तरफ जानेसे केवल दुःख-ही-दुःख हाथ लगेगा। कृष्णकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कृष्ण तो एकमात्र भक्तिके वशमें हैं, एकमात्र भक्ति द्वारा ही वे लभ्य हैं। श्रद्धापूर्वक उनका भजन करो, वे तुम्हें अवश्य प्राप्त होंगे।

जब परमार्थ पिपासु साधक अत्यन्त व्याकुल होकर श्रीगुरुदेवके निकट आत्मतत्त्वके सिद्धातोंका श्रवण करता है, तब उसका चित्त क्रमशः निर्मल होकर श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंके प्रति अग्रसर होता रहता है। आम्नाय ही परमार्थके सम्बन्धमें एकमात्र प्रमाण हैं, इसी प्रमाणका अवलम्बनकर नौ प्रकारके प्रमेयोंका विवेचन किया जाता है। आम्नायके आधारपर प्रमेयोंका विचार शुद्ध चित्तमें आविर्भूत होता है। इसीका नाम आत्म-समाधि है। यह आत्म-समाधि ही परमार्थका मूलाधार है।

प्रथम प्रमेय—श्रीकृष्ण ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् हैं

आम्नाय द्वारा सबसे पहले यह जाना जाता है कि परमब्रह्म श्रीहरि ही जीवोंके एकमात्र उपास्य हैं। इन्हीं श्रीहरिकी पद-नख-ज्योतिको निर्विशेष ब्रह्मवादी निर्विशेष चिन्ताद्वारा निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें दर्शन करते हैं। वे हरि ही अपने एक अंशसे परमात्मा अथवा ईश्वरके रूपमें उत्पत्ति, स्थिति और संहारके कारण हैं। वे हरि ही स्वयं कृष्ण हैं, परमात्मा—विष्णु हैं तथा उनकी ज्योति—ब्रह्म है। सर्वशक्तिमान श्रीहरिका तत्त्व विचार करनेपर परब्रह्मसम्बन्धी समस्त सन्देह दूर हो जाते हैं। जब तक हृदयमें संशय बना रहता है, तब तक साधक प्राकृत ज्ञानके विपरीत एक निर्विशेष भाव ग्रहणकर ब्रह्मका अनुशीलन करता रहता है। फिर अंशरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिए अष्टाङ्ग आदि योगोंकी कल्पना करता है। किन्तु सब प्रकारसे संशयरहित होनेपर ही एकमात्र कृष्णमें निश्चला भक्ति उदित होती है।

द्वितीय प्रमेय—श्रीहरि अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न हैं

आम्नायके आधारपर द्वितीय प्रमेयका विचार हृदयमें उदित होता है—परब्रह्म श्रीहरि स्वाभाविक अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न हैं। वे अपनी एक शक्ति द्वारा जीवोंके अस्फुट ज्ञानाधारपर ब्रह्मके रूपमें प्रतिभात होते हैं। इस शक्तिका नाम निर्विशेष-शक्ति है। फिर वे अपनी अनन्त शक्तियों द्वारा ब्रह्म और परमात्माको क्रोड़ीभूतकर अपनी भगवत्ताका प्रकाश करते हैं। इसका नाम 'सविशेष-शक्ति' है। निर्विशेष और सविशेष—ये दोनों शक्तियाँ उनमें नित्य वर्त्तमान रहनेपर भी सविशेष शक्तिका बल अधिक दीख पड़ता है।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।
(श्वे॰ उ॰ ६/८)

उस पराशक्तिकी सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी नामक तीन

प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। ये तीनों शक्तियाँ भक्तोंको सहज ही ज्ञानगम्य होती हैं।

तृतीय प्रमेय—श्रीकृष्ण रसस्वरूप हैं

आम्नाय कहते हैं—परब्रह्म श्रीकृष्ण परम अप्राकृत रस हैं। जिस रसके प्रभावसे चित्-अचित् उभय जगत् उन्मत्त हो उठता है, वही श्रीकृष्णका स्वरूप है। इसीलिए श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—"मैं ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ।" इस परम रसके प्रभावसे ही चित् और जड़ जगत्में अनन्त विचित्रताएँ हैं। चित्-जगत्का रस शुद्ध होता है। जड़जगत्में जो रस दिखायी पड़ता है, वह चित्-जगत्के रसकी छाया है—शुद्ध रस नहीं है। भगवान्की अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे श्रीव्रजलीला प्रपञ्चमें उदित होती है, जहाँ चित्-जगत्के अनन्त रस प्रकटित हैं। जीवमात्र रसका अधिकारी है। यह परम रस जीवोंका प्राप्य-धर्म है। भजनके प्रभावसे जीव अप्राकृत-रसको प्राप्त करता है। ब्रह्म-प्राप्ति नितान्त नीरस व्यापार है। अतएव ब्रह्म-प्राप्ति अवाञ्छनीय है। परमात्म-योगमें भी रस नामकी कोई वस्तु नहीं है। केवल कृष्ण ही रसस्वरूप हैं और इनका भजन ही रसमय है।

चतुर्थ प्रमेय—जीवतत्त्व, उसकी स्वतन्त्रता और स्वरूप

आम्नाय कहते हैं—जीव कृष्णरूप चित् सूर्यके अणुसमूह हैं। इनकी संख्या अनन्त है। जिस प्रकार कृष्णकी चित्-शक्तिसे चित्-जगत् और अपरा मायाशक्तिसे जड़जगत् प्रादुर्भूत होता है, उसी प्रकार उनकी परा खण्ड चित्-शक्तिसे जीव-जगत् प्रकाशित होता है। श्रीकृष्णके चिद्धर्ममें जो समस्त गुण पूर्ण मात्रामें होते हैं, वे ही गुण बिन्दु-बिन्दु परिमाणमें अणु जीवोंमें स्वभावतः वर्त्तमान हैं। श्रीकृष्णमें स्वातन्त्र्य धर्म पूर्ण रूपमें है, उसी स्वातन्त्र्य धर्मका एक कण जीवस्वरूपमें भी लक्षित होता है। उसी धर्मके द्वारा जीवोंमें स्वाभाविक स्वातन्त्र्य-धर्म नित्य-सिद्ध है। इसी

स्वतन्त्रताके कारण जीवोंकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। एक प्रवृत्ति द्वारा जीव स्वसुखकी खोज करता है, तो दूसरी प्रवृत्ति द्वारा वह कृष्ण-सुखका अन्वेषण करता है। अब प्रवृत्तिके भेदसे जीव दो प्रकारके हुए—स्व-सुखान्वेषी और कृष्ण-सुखान्वेषी। स्व-सुखान्वेषी जीव—नित्यबद्ध हैं तथा कृष्ण-सुखान्वेषी जीव—नित्यमुक्त होते हैं।

चित्-जगत्में नित्यवर्त्तमान तथा मायाजगत्में भूत, भविष्यत तथा वर्त्तमान तीनों कालोंकी स्थिति

अचिन्त्य भावसमूह चित्-कालके अनुगत होते हैं। चित्-जगत् अर्थात् वैकुण्ठके कालमें केवलमात्र नित्य वर्त्तमानरूप धर्म होता है। किन्तु अपरा मायाशक्तिगत कालमें भूत, भविष्य और वर्त्तमानरूप त्रिविध-धर्म होते हैं। अतएव इस विषयके समस्त विचारोंको चित्-कालके अन्तर्गत कर लेनेपर कोई संशय नहीं रह जाता। किन्तु उन्हें जड़कालके अन्तर्गत करनेपर अनेक संशय उत्पन्न होते हैं। जीव शुद्ध चित्-कण होकर भी वह स्व-सुखका अन्वेषण क्यों करता है—ऐसा वितर्क करनेपर जड़ीय कालगत संशय उपस्थित होता है। इस संशयका परित्याग होनेपर ही भजन सम्भव होता है। अचिन्त्यभावोंके सम्बन्धमें तर्क-वितर्क करनेसे केवलमात्र अनर्थ ही पैदा होता है।

पञ्चम प्रमेय—दो प्रकारके जीव—बद्ध एवं मुक्त

निज सुखान्वेषी जीव निकटमें स्थित मायाको वरणकर माया-कालगत सुख-दुःख भोग कर रहे हैं। कर्म एक गोरखधन्धेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिन्होंने मायामें प्रवेश नहीं किया है, उनके साथ कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव दुर्भाग्यवश मायाके गोरखधन्धेमें फँसकर स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके द्वारा मायिक जगत्का भोग करता है। इस गोरखधन्धेका कोई ओर-छोर नहीं है। किन्तु जीव जिस प्रकार अति सहज ही इसमें फँस गया है, उसी प्रकार इससे मुक्त भी अत्यन्त सहज ही हो सकता है।

षष्ठ प्रमेय—नित्यबद्ध जीव सत्सङ्गके प्रभावसे मुक्ति लाभ करता है

मायाके गोरखधन्धेमें फँसे हुए जीवोंको 'नित्यबद्ध' कहा जा सकता है। 'नित्य' शब्द मायिक कालके सम्बन्धमें प्रयुक्त है। चित्–वस्तुके स्पर्शसे चित्–कालके उदय होनेपर उसकी अनित्यता उपलब्ध होती है। साधु–सन्तोंकी कृपासे बद्धजीव जन्म–जन्मान्तरोंकी अर्जित भक्ति–उन्मुखी सुकृतिके प्रभावसे मायासे मुक्त होता है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्
जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः।
सत्–सङ्गमो यर्हि तदेव सद्‌गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/५१/३४)

सत्सङ्गसे संसार–दुःखका क्षय होता है तथा श्रीकृष्णकी कृपामें दृढ़ विश्वास होता है। उस समय जीव भजनके प्रभावसे तथा भगवत्–कृपासे माया–बन्धनका छेदनकर कृष्णसेवा लाभ करता है और नित्यमुक्त जीवोंके साथ सालोक्य प्राप्त करता है।

सप्तम प्रमेय—अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध

कृष्ण और कृष्णेतर वस्तुओंमें परस्पर अचिन्त्यभेदाभद सम्बन्ध है। इसीलिए वेदोंमें कहीं–कहीं अभेदसूचक और कहीं–कहीं भेदसूचक मन्त्र देखे जाते हैं। सिद्धान्त दो प्रकारके होते हैं—तात्त्विक और अतात्त्विक। अतात्त्विक सिद्धान्त सम्पूर्ण वेदका एकदेशीय विचार है और तात्त्विक सिद्धान्त अर्थात् आम्नायसे यह विदित होता है कि श्रीकृष्ण एक अद्वयतत्त्व और सर्वमय हैं। वे एक ही वस्तु हैं तथा सर्वशक्तिमान हैं। शक्तिपरिणत जीव और जगत् वर्त्तमान रहनेपर भी वस्तु एक ही है तथा तत्त्वकी दृष्टिसे वस्तु अद्वय अर्थात् नित्य अभेद है; परन्तु शक्तिगत

विचारसे शक्तिके परिणामस्वरूप कृष्णके अतिरिक्त जो कुछ दीख पड़ता है, वह कृष्णसे नित्य भिन्न है। यह नित्य भेदाभेद स्वभावतः अचिन्त्य होता है। क्योंकि जीवकी मायिक बुद्धि इस भेदाभेदका विवेचन करनेमें असमर्थ होती है। सौभाग्यवश जब जीवका उनमें अप्राकृत बुद्धिका उदय होता है, तभी अचिन्त्य-भेदाभेदयुक्त शुद्ध ज्ञान अनुभूत हो सकता है। आम्नाय-वाक्योंमें दृढ़ विश्वास होनेपर कृष्णकी कृपासे भक्तजन इस अचिन्त्य-भेदाभेद ज्ञानको अल्प समयमें ही स्पष्ट रूपमें देख पाते हैं। इस विषयमें जड़ तर्क-वितर्क करनेपर मतवाद हो पड़ता है।

उक्त सात प्रमेयोंके ज्ञानको सम्बन्धज्ञान कहते हैं

आत्म-समाधि द्वारा पाये जानेवाले इन सात प्रमेयोंका ज्ञान जब आम्नायके बलसे साधकके हृदयमें उदित हो जाये, तब ऐसा कहा जा सकता है कि उसे सम्बन्धज्ञान प्राप्त हो गया है। श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीमन् महाप्रभुजीने सम्बन्धज्ञान-तत्त्वको विशद् रूपमें बतलाया है—सनातन गोस्वामीके प्रश्न ये हैं—(१) मैं कौन हूँ? (२) ये तीनों ताप मुझे क्यों दग्ध कर रहे हैं? और (३) मेरा कल्याण कैसे हो सकता है? जो लोग वास्तवमें कल्याण प्राप्त करना चाहते हैं, वे श्रीगुरुदेवसे अवश्य ही इन प्रश्नोंको पूछेंगे। श्रीगुरुदेवसे सदुत्तर पाकर उनके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कृष्णभक्तिके प्रति दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है। तत्त्वज्ञानको व्यर्थ समझकर उसकी शिक्षामें अवहेलना करना उचित नहीं, क्योंकि इससे कृष्णभक्ति सुदृढ़ होती है।

उपर्युक्त एक प्रमाण और सात प्रमेयोंका सार

अब देखिये, दस मूलोंमेंसे प्रथम आठ मूलोंमें प्रमाण और सम्बन्धज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन गोस्वामीके प्रश्नोंके जो उत्तर दिये हैं, उनमें प्रमाण और प्रमेयका विचार अतीव चमत्कारपूर्ण और स्पष्ट है—

(क) प्रमाण—वेद ही प्रमाण हैं। वेदमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वका निर्णय किया गया है।

(ख) प्रमेय—(१) कृष्ण ही परमतत्त्व हैं। अद्वयज्ञानतत्त्व स्वयंभगवान् हैं। ये सर्वैश्वर्यपूर्ण हैं। इनका 'नित्य धाम'—गोलोक वृन्दावन है। ये ज्ञान, योग, और भक्ति—इन त्रिविध साधनों द्वारा क्रमशः ब्रह्म, आत्मा और भगवान्के रूपमें प्रकाशित होते हैं।

(२) कृष्ण अनन्त अचिन्त्य शक्तियोंसे युक्त हैं। इन अनन्त शक्तियोंमें चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—ये तीन शक्तियाँ प्रधान हैं।

(३) कृष्ण रसस्वरूप हैं।

(४) जीवका स्वरूप नित्य-कृष्णदास है। वह भगवान्का विभिन्नांश तत्त्व है। जीवकी तुलना सूर्यके किरण-कण अथवा अग्निके स्फुलिङ्गके साथ की जा सकती है। विभिन्नांश तत्त्व जीव दो प्रकारके होते हैं—नित्यमुक्त और नित्यबद्ध। नित्यमुक्त जीव कृष्णकी नित्यसेवाकर प्रेमानन्दमें विभोर रहते हैं।

(५) नित्यबद्ध जीव कृष्णको भूलनेके कारण अनादिकालसे कृष्ण बहिर्मुख होते हैं। माया इन बहिर्मुख जीवोंको अनादिकालसे ही संसार-दुःखका भोग कराती है।

(६) मुक्तजीव मायासे मुक्त होते हैं।

(७) जीव कृष्णकी तटस्थाशक्तिके परिणाम हैं। इनका कृष्णके साथ अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध है।

अष्टम प्रमेय—कृष्णभक्ति ही अभिधेय है

सम्बन्धज्ञानका उदय होनेपर अभिधेय (साधन) आरम्भ होता है। कृष्णभक्ति ही अभिधेय है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रोंमें जीवोंके चरम कर्त्तव्यका निरूपण किया गया है। उस चरम कर्त्तव्यका नाम ही 'अभिधेय' है। कर्म, योग और ज्ञान—ये अत्यन्त तुच्छ और गौण साधन हैं। ये भक्तिकी सहायताके बिना स्वतन्त्र रूपमें कोई फल नहीं प्रदान कर सकते हैं। साधनभक्तिको

ही अभिधेय कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा। वैधीभक्तिके ६४ अङ्ग हैं। इन ६४ अङ्गोंको पुनः ९ अङ्गोंमें लाया गया है, जिसे नवधाभक्ति कहते हैं—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/५/२३)

कर्म और ज्ञानसे भक्तिका भेद

तन, मन और वचनसे श्रीकृष्णके चरणोंमें चित्तको लगानेका नाम ही भक्ति है। कर्म और ज्ञानसे भक्तिका अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। कहीं-कहीं कर्म और ज्ञान तथा भक्तिके अङ्गसमूह बिलकुल एक जैसे ही दीख पड़ते हैं। इन अङ्गोंमें जब भक्तिके अतिरिक्त अन्य कामनाएँ संयुक्त होती हैं, तब उन्हें कर्माङ्ग कहते हैं, जब वे शुष्क-ब्रह्म चिन्तासे युक्त होते हैं, तब उन्हें ज्ञानाङ्ग कहते हैं और जब वे कर्म और ज्ञानसे शून्य होकर केवलमात्र कृष्णसेवाके उद्देश्यसे आचरित हों, तब उन्हें भक्तिका अङ्ग कहते हैं। जिस कर्मका फल स्वयं भोग किया जाये, उसे 'कर्म' कहते हैं और जो कर्म सायुज्य मुक्तिको लक्ष्य कर किया जाता है उसे 'ब्रह्मज्ञान' कहते हैं। अतएव श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिका लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

वैध-साधनभक्ति और रागानुगाभक्तिके लक्षण

शास्त्रकी विधियोंके अधीन रहकर भक्तिके अङ्गोंका पालन करनेका नाम 'वैध-साधनभक्ति' है और कृष्णके अनुरागके

वशवर्त्ती होकर जो सेवा-कार्य किया जाता है, उसे 'रागभक्ति' कहते हैं। कृष्णके प्रति व्रजवासियोंकी भक्ति 'रागात्मिकाभक्ति' है। भक्तिपर्वमें व्रजवासियोंका अनुकरण ही 'रागानुगाभक्ति' है। वैधीभक्ति जब श्रद्धासे आरम्भ होकर रति तक पहुँचती है, तब वह रागानुगाभक्तिके साथ एक हो जाती है। रागानुगाभक्ति अत्यन्त बलवान होती है। यही नवम मूल अर्थात् अष्टम प्रमेय है।

नवम प्रमेय अथवा दशम मूल—कृष्णप्रेम ही 'प्रयोजन' है

आम्नाय वाणीके अनुसार प्रेम ही प्रयोजनतत्त्व है। साधन-भक्तिसे लेकर प्रेम-प्राप्ति तक भिन्न-भिन्न क्रम हैं। जन्म-जन्मान्तरोंकी सुकृतिसे सौभाग्यवश बद्ध जीवोंमें श्रद्धाका उदय होता है। तब श्रद्धालु जीव साधुसङ्ग करता है। सत्सङ्गमें श्रवण-कीर्त्तन आदि साधनभक्तिका आचरण करता है। धीरे-धीरे साधनके प्रभावसे उसके सारे अनर्थ दूर हो जाते हैं, तब पूर्व श्रद्धा 'निष्ठा' बन जाती है। निष्ठा दृढ़ होनेपर 'रुचि' होती है। रुचिसे आसक्ति, आसक्तिसे प्रीतिका अङ्कुर उत्पन्न होता है। यही रति (प्रीति-अङ्कुर) गाढ़ा होनेपर प्रेम होता है। प्रेम ही जीवमात्रका चरम प्रयोजन है।

श्रीमन् महाप्रभुकी इस दसमूल शिक्षाके प्रति जिन्हें सन्देह होता है, उनका भजन-साधन निरर्थक हो जाता है। संशयसे भजन विकृत हो जाता है। भजन विकृत होनेसे जीवका सर्वनाश हो जाता है। अतः जो लोग विशुद्ध रूपसे भजन करना चाहते हैं, उन्हें सुदृढ़ 'निश्चय' के साथ भजन करना चाहिये।

(३) धैर्य

भजनमें धैर्यकी आवश्यकता

भजनमें लगे हुए व्यक्तियोंके लिए धैर्यकी नितान्त आवश्यकता है। जिसमें धैर्य गुण होता है, वे धीर कहलाते हैं। धैर्यके अभावमें मनुष्य चञ्चल हो उठता है। जो अधीर होते हैं, वे कोई भी कार्य नहीं कर पाते। धैर्य गुणके द्वारा साधक स्वयंको वशमें करके अन्तमें जगत्को अपने वशमें कर लेता है।

छः प्रकारके वेगोंको धारण करना ही धैर्य है

'उपदेशामृत' के प्रथम श्लोकमें धैर्यगुणका उल्लेख आया है। यथा—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगं।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

छः वेग ये हैं—वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, जिह्वाका वेग, उदरका वेग, उपस्थका वेग।

वाणीका वेग और उसके दमनका उपाय

जब अधिक बातें बोलनेकी इच्छा होती है, तब मनुष्य वाचाल हो पड़ता है। जब मनुष्य अपनी वाणीको नियमित करनेमें असमर्थ होता है, तब परचर्चा होने लगती है। परचर्चा द्वारा बहुतोंके साथ शत्रुता हो जाती है। अनावश्यक वचन बोलना नितान्त मूर्खताका कार्य है। किन्तु संसारी मनुष्य सर्वदा ही अनावश्यक वाक्योंका प्रयोगकर समय नष्ट करता है। फलस्वरूप

अनेक दुःख पाता है। धार्मिक मनुष्य इस उत्पातसे बचनेके लिए मौनव्रतका अवलम्बन किया करते हैं। हमारे ऋषियोंने सभी अच्छे-अच्छे व्रतोंके साथ मौनव्रत धारण करनेकी व्यवस्था दी है। भजन-पिपासु व्यक्तियोंको अनावश्यक बातें नहीं बोलनी चाहिये। यदि अनावश्यक बात बोलनी ही पड़ रही हो, तो अवश्य मौन धारण कर लेना चाहिये। भगवत्कथाके अतिरिक्त अन्य सभी कथाएँ (बातें) अनावश्यक हैं। परन्तु जो विषय-कथाएँ हरिभक्तिके अनुकूल रूपमें बोली जाती हैं, वे कभी भी अनावश्यक नहीं हैं। अतएव भक्तोंको हरिकथा और हरिकथाके अनुकूल कथाएँ ही बोलनी चाहिये। इनके अतिरिक्त सभी कथाएँ वाणीके वेगमें परिणित होंगी। इस वाणीवेगको सहनेमें जो समर्थ होते हैं, वे ही धीर पुरुष हैं।

मनका वेग और उसके दमनका उपाय

मनका वेग सहना भी धीर व्यक्तिका धर्म है। जब तक मनके वेगको धारण करनेका अभ्यास नहीं होता, तब तक मन लगाकर भजन कैसे हो सकता है? संसारी लोगोंके मनमें सर्वदा आशारूपी वेगका उदय होता रहता है। सोनेके समयके अतिरिक्त सब समय संसारी मनुष्य नाना प्रकारके मनोरथोंपर आरूढ़ होकर नाना प्रकारकी चिन्ताओंकी उधेड़-बुनमें व्यस्त रहता है। इस कार्यसे उसे कभी अवकाश नहीं मिलता। निद्राकालमें भी उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। दुःस्वप्न और सुस्वप्न रूप चिन्ताएँ उसका पीछा नहीं छोड़तीं। ऋषियोंने मनवेगको नियमित करनेके लिए ही अष्टाङ्गयोग और राजयोगकी कल्पना की है। परन्तु परमेश्वरका नियम यह है कि मनको थोड़ा उच्च रसका आस्वादन कराकर उसे क्षुद्र प्राकृत रससे दूरकर नियमित करना होता है। जिनकी भक्तिपथमें रुचि है, वे अति सहज ही मनको नियमित कर सकते हैं। मनवेगके बिना रहना नहीं चाहता। उसे अप्राकृत विषयोंमें

वेगवान करनेसे वह बड़े वेगसे अप्राकृत विषयोंमें ही रम जाता है। अप्राकृत विषयोंका रसास्वादन कर लेनेपर मन तुच्छ प्राकृत–विषयोंके प्रति वेगवान नहीं होता।

मनको दमन करनेके लिए योगकी अपेक्षा शुद्धभक्ति ही सर्वोत्तम उपाय है

बहुत–से लोग ऐसा सोचते हैं कि अष्टाङ्गयोगके बिना मनको नियमित करनेका और कोई उपाय नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। मनको भक्ति द्वारा जितना सहज रूपमें नियमित किया जा सकता है उतना योगसे नहीं किया जा सकता। पातञ्जलि मुनिने भी इसे स्वीकार किया है। वे ईश्वर–प्रणिधान अर्थात् भक्तियोगको भी अष्टाङ्गयोगकी तरह मनको नियमित करनेका उपाय स्वीकार करते हैं। पातञ्जलिका ईश्वर–प्रणिधान शुद्धाभक्ति नहीं है, बल्कि काम्यभक्तिमात्र है। जिस भक्तिका प्रधान उद्देश्य मनको नियमित करना है, वह कदापि अन्याभिलाषिताशून्य निर्मल भक्ति नहीं हो सकती है। आनुकूल्यपूर्वक कृष्णानुशीलन अर्थात् कृष्णकी सेवा ही एकमात्र शुद्धभक्ति है। अतएव जब शुद्धभक्तिका अनुष्ठान होने लगता है, तब चित्त अपने–आप प्रसन्न हो उठता है। "येन केन प्रकारेण मनः कृष्णे नियोजयेत्" (श्रीमद्भा॰ ७/१/३२) इस उपदेशका पालन करनेसे तथा मनको श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें लगानेसे मन सहज ही नियमित हो जाता है, तब वह किसी दूसरे विषयोंकी और नहीं दौड़ता। इस प्रकार शुद्ध कृष्णभक्ति द्वारा साधकका मनोवेग नियमित हो जाता है। इस विषयको भलीभाँति धारण करनेसे योग और भक्तिका स्वाभाविक भेद समझा जा सकता है।

क्रोध–वेग और उसके दमनका उपाय

भक्ति–पिपासुओंके लिए क्रोध–वेगको दमन करना नितान्त कर्त्तव्य है। काम–भोगमें बाधा पड़नेसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है।

क्रोधसे क्रमशः विनाश तक भी हो जाता है। चैतन्यचरितामृत (म॰ १९/१४९) में कहते हैं—"कृष्णभक्त निष्काम अतएव शान्त।" जो शुद्धाभक्तिका आस्वादन करते हैं, उनके चित्तमें किसी प्रकारका तुच्छ काम नहीं रहता। अतएव कामके अभावमें उनके मनमें क्रोध उत्पन्न होनेकी तनिक भी सम्भावना नहीं रहती। काम्यभक्ति द्वारा क्रोधका दमन नहीं किया जा सकता। केवल विवेक द्वारा भी उसका दमन नहीं किया जा सकता है। विवेक द्वारा जीता हुआ क्रोध स्थायी रूपमें नियमित नहीं होता, बल्कि अस्थिर होता है। विषय-राग विवेकको थोड़े ही समयमें हराकर अपने राज्यमें क्रोधको पुनः स्थान दे देता है।

श्रीमद्भागवतमें (११वें स्कन्धके २३ वें अध्यायमें) एक त्रिदण्डिभिक्षुककी कथा है। उज्जैनमें एक धनी विप्र रहता था। वह बड़ा ही लोभी, कृपण और क्रोधी था। उसकी कृपणता और बुरे-स्वभावसे उसका सारा परिवार उसका शत्रु बन गया था। समयके फेरसे कुछ ही दिनोंमें उसका सर्वस्व नष्ट हो गया। इससे उसके मनमें संसारके प्रति उत्कट वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह त्रिदण्डिभिक्षुकका धर्म लेकर भक्तियोगका साधन करने लगा। भक्तियोगके प्रभावसे थोड़े ही दिनोंमें क्रोधका दमन करनेमें वह समर्थ हो गया। यथा—

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बहवीभिः परिभूतिभिः॥

केचित् त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुं।
पीठञ्चैकेऽक्षसूत्रञ्च कन्थां चीराणि केचन।
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्यददुर्मुनेः॥

अन्नञ्च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे।
मुत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मुर्द्धनि॥

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥

एवं स भौतिकं दुःख दैविकं दैहिकञ्च यत्।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यते॥

वह उज्जैन निवासी ब्राह्मण हृदयकी ग्रन्थि 'मैं' और 'मेरे' की गाँठ खोलकर शान्त-भिक्षुक हो गया। उस बूढ़े और मलिन ब्राह्मणको देखते ही दुष्ट व्यक्ति उसपर टूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करके उसे तङ्ग करते। कोई उसका त्रिदण्ड छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्र ही झटक लेता। कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, माला और कन्था ही ले कर भाग जाता। कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्रको ही इधर-उधर डाल देता। कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई-कोई दिखला-दिखलाकर पुनः छीन लेते। जब वह अवधूत मधुकरी माँगकर लाता और बाहर नदी तटपर भोजन करने बैठता, तो पापी लोग कभी उसके सिरपर पेशाब कर देते, तो कभी थूक देते। कोई-कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि देखो-देखो, अब इस दुष्टने धर्मका ढोंग रचा है। धन-सम्पत्ति जाती रही, स्त्री-पुत्रोंने घरसे निकाल दिया, तब भीख माँगनेका रोजगार कर लिया है। किन्तु इस प्रकार अपमानित होकर भी वह सब कुछ चुपचाप सह लेता। उसे कभी ज्वर आदिके कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गर्मी-सर्दी आदिसे दैवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदिके द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते, परन्तु भिक्षुकके मनमें इससे कोई विकार न होता। वह समझता था कि यह मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और इसे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा।

गृहस्थ और संन्यासी सबके लिए त्रिदण्डि भिक्षुककी शिक्षा ग्रहणीय है

तब उस भिक्षुकने ऐसा उद्गार प्रकट किया—

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा—
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।

अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२३/५७)

मैं आत्मा अर्थात् क्षुद्र जीव हूँ। कृष्ण परात्मा हैं। बहिर्मुख जीव संसार-निष्ठ होकर भौतिक, दैहिक और दैविक कष्टोंको भोग कर रहा है। कृष्णसेवा ही जीवका नित्यधर्म है। इस संसारमें मैं संसार-निष्ठाका परित्यागकर परात्म-निष्ठारूप कृष्णभजन करूँगा। मन, वाणी, और क्रोध आदिको वशीभूतकर भक्तिके अनुकूल जीवनके साथ परात्म-निष्ठाका अवलम्बन करूँगा। बड़े-बड़े प्राचीन ऋषियोंने इस परात्म-निष्ठाका आश्रय करके इस संसार-समुद्रको पार किया है। यह परात्म-निष्ठा कहीं-कहीं गृहस्थ-धर्ममें जनकादिकी तरह लक्षित होती है, तो कहीं-कहींपर भिक्षु-धर्ममें सनक-सनातन आदिकी तरह परिलक्षित होती है। वास्तवमें उभय अवस्थाओंकी परात्म-निष्ठा एक ही चीज है। परात्म-निष्ठाके बिना इस दुरन्त-पार तमोमय संसार-सागरको पार नहीं किया जा सकता है। मुकुन्द-सेवन ही हमारा एकमात्र आश्रय है। मैं भगवान् मुकुन्दके चरणकमलोंकी सेवा द्वारा ही उसे पार करूँगा। इस भिक्षुक गीतसे हम स्पष्ट देख रहे हैं कि योगादि चेष्टा द्वारा संसार-सागरको पार करना असम्भव है। श्रीकृष्णकी भक्ति-निष्ठा द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। जो भक्तिका आश्रयकर उसके द्वारा मन, वाणी और क्रोधके वेगोंका दमन करते हैं, वे ही धीर हैं।

जिह्वाका वेग और उसके दमनका उपाय

जिह्वावेगको दमन करना भी नितान्त कर्त्तव्य है। मधुर, लवण, तिक्त, कटु, कषाय, और अम्ल—इन छः प्रकारके रसोंका आस्वादन करनेके लिए संसारी मनुष्य सर्वदा व्यस्त रहता है। आज खीर खाऊँगा, आज मोहनभोग खाऊँगा, आज उत्तम पेय पान करूँगा—ऐसी-ऐसी लालसाएँ विषयी लागोंको चैनसे बैठने नहीं देतीं। जिह्वा जितना ही भोजन करती है, उतनी ही भोग

लालसा बढ़ती जाती है। जो लोग जिह्वाकी लालसासे इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, उन लोगोंके लिए कृष्ण-प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने कहा है—

जिह्वार लालसे येइ इति-उति धाय।
शिश्नोदर-परायण कृष्ण नाहि पाय॥

वैरागी हइया करे जिह्वार लालस।
परमार्थ जाय, आर हय रसेर वश॥

वैरागीर कृत्य-सदा नाम-सङ्कीर्त्तन।
शाक-पत्र-फल-मूले उदर भरण॥
(चै॰ च॰ अ॰ ६/२२७, २२४, २२६)

अर्थात् जिह्वाकी लालसाको पूर्ण करनेके लिए जो लोग इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, वे शिश्नोदरपरायण व्यक्ति कृष्णको नहीं पा सकते। जो वैरागी होकर जिह्वाकी लालसा करता है, उसका परमार्थ तो नष्ट होता ही है, अधिकन्तु रसोंके वशमें होकर वह अपना लौकिक अर्थ भी गँवा डालता है। वैरागीको सर्वदा नामसङ्कीर्त्तन करना चाहिये तथा शाक, पत्ता, फल, मूल आदि भोजन कर उदरकी पूर्ति करनी चाहिये।

जो भोज्य पदार्थ अनायास उपलब्ध हों, उसीके द्वारा उदर भरण कर लेना उचित है। कृष्णको सात्त्विक-द्रव्य निवेदनकर उनका प्रसाद सेवन करनेसे जिह्वाकी लालसा दूर होती है तथा साथ-ही-साथ कृष्णका अनुशीलन भी हुआ करता है। यदि बिना परिश्रमके ही सुखाद्य भगवत्प्रसाद मिल जाये तो उससे जिह्वाकी लालसा बढ़ती नहीं, प्रत्युत् धीरे-धीरे दूर हो जाती है।

उदरवेग और उसके दमनका उपाय

उदरवेग एक बड़ा उत्पात है। जिस आहारसे क्षुधा मिट जाये और शरीरकी रक्षा हो, वही आहार उदरके लिए आवश्यक है।

भक्ति-पिपासु व्यक्ति युक्त आहार द्वारा शरीरकी रक्षा करेंगे। जो लोग ऐसा न कर आवश्यकतासे अधिक भोजन करते हैं, वे पेटू हैं। 'मितभुक्' अर्थात् 'परिमित रूपमें भोजन करनेवाला'—इसे भक्तोंका एक लक्षण माना गया है। लघु आहार करनेसे शरीर हल्का रहता है तथा भजनमें बाधा नहीं पड़ती। जो उदरवेगको सहनेमें समर्थ नहीं होते, वे आहार-लोलुप होते हैं। भगवत्-प्रसादके अतिरिक्त कोई भी पदार्थ भोजन नहीं करूँगा—जो ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेते हैं, वे उदरवेगको सहनेमें समर्थ होते हें। व्रतोंमें उपवास करना उदरवेगको दमन करनेका शिक्षास्थल है।

उपस्थवेग और उसका दमन

उपस्थवेग बड़ा ही भयानक होता है। "लोके व्यवायामिष-मद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना"—श्रीमद्भागवत (११/५/११) के इस श्लोकका तात्पर्य अतिशय गूढ़ है। जो रक्त-मांस द्वारा गठित शरीरमें निवास करते हैं, उनके लिए स्त्रीसङ्ग एक प्रकारसे निसर्गजनित धर्म हो पड़ा है। इस निसर्गको (विकृत स्वभावको) संकुचित करनेके लिए ही विवाहकी विधि दी गयी है। जो लोग विवाह-विधिसे मुक्त होकर उच्छृंखल होना चाहते हैं, वे प्रायः पशुवत्-क्रियाओंमें प्रवृत्त रहते हैं और जो लोग सत्सङ्गमें रहकर भजनके प्रभावसे नैसर्गिक विधिको अतिक्रमकर अप्राकृत विषयमें रुचि प्राप्त कर चुके हैं, उनके लिए स्त्री-पुरुष सङ्ग अत्यन्त तुच्छ है। जो विषय-रोगसे पूर्ण हैं—विषय-भोगकी वासनाएँ जिनमें भरपूर हैं, वे उपस्थवेगको सहनेमें असमर्थ होते हैं, अतः सर्वदा अवैध कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं। इस विषयमें साधकभक्त दो प्रकारके होते हैं। सत्सङ्गके प्रभावसे जिनकी रति (भगवत्-भाव) शुद्ध हो चुकी है, वे सम्पूर्ण रूपसे स्त्रीसङ्गका परित्यागकर भजन करते हैं। ये लोग गृहत्यागी वैष्णव होते हैं। दूसरे वे हैं, जिनकी स्त्रीसङ्गकी प्रवृत्ति दूर नहीं हुई है। ये लोग विधिपूर्वक विवाहकर गृहस्थ

धर्मका पालन करते हुए भगवान्‌का भजन करते हैं। वैध-स्त्रीसङ्गको ही उपस्थवेग-धारण कहते हैं।

षड्वेग दमनका सर्वोत्तम उपाय

पूर्वोक्त छः वेगोंका विधिपूर्वक दमन करनेसे भजनमें सहायता मिलती है। किन्तु ये वेग प्रबल रहनेपर भजनके प्रतिकूल हो पड़ते हैं। उक्त छः प्रकारके वेगोंको दमन करनेका नाम ही धैर्य है। जब तक शरीर रहता है, तब तक ये प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं होतीं, परन्तु इन्हें यथायोग्य विषयोंमें नियुक्त कर सकनेपर ये दोषजनक नहीं होतीं। सारांश यह कि वेगोंको उनके विषयोंसे हटाकर भक्तिके अनुकूल करना ही बुद्धिमानीका काम है। जैसे कामको सासांरिक विषयोंसे हटाकर कृष्णसेवामें, क्रोधको भक्त-द्वेषीके प्रति, लोभको सत्सङ्गमें, हरिकथामें, मदको कृष्णगुणगानमें तथा इसी प्रकार समस्त वेगोंको भगवत्-विषयोंमें नियुक्त कर लेनेपर ये बाधक नहीं होते, बल्कि सहायक होते हैं। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जब कि धैर्य-गुण हो।

प्रत्येक साधकमें धैर्य-गुण रहना आवश्यक है

'धैर्य' शब्दको प्रयोग करनेका एक और भी तात्पर्य है। जो लोग साधन कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, वे लोग कुछ फल प्राप्त करनेकी कामना रखते हैं।

कर्मी कर्मकाण्डसे स्वर्ग-सुखकी आशा करता है। ज्ञानी ज्ञानकाण्डसे मुक्तिकी आशा करता है। और भक्त भक्तिसाधनसे कृष्णकी प्रसन्नता लाभ करनेकी आशा करता है। कुछ साधक ऐसे होते हैं, जो साधन करते-करते फल प्राप्त करनेमें देर होनेपर अधीर होकर परमार्थसे विच्युत हो पड़ते हैं। अतएव फलकी आशाकर जो भजन-प्रयासी व्यक्ति धैर्य अवलम्बन करते हैं, केवल वे ही फल प्राप्त करते हैं। आज हो, कल हो या सौ वर्ष बाद हो अथवा दस जन्मके बाद ही क्यों न हो,

कभी–न–कभी कृष्ण मुझपर अवश्य ही दया करेंगे, मैं दृढ़तापूर्वक उनके चरणकमलोंका आश्रय करूँगा—उन्हें कभी नहीं छोड़ूँगा—भक्तिसाधकके लिए ऐसा धैर्य नितान्त वाञ्छनीय है।

(४) तत्तत्कर्म–प्रवर्त्तन

श्रीलरूप गोस्वामीने भजन–पिपासु व्यक्तियोंके लिए तत्तत्कर्म–प्रवर्त्तनकी व्यवस्था की है। जिन–जिन कर्मोंसे भक्तिमें सहायता मिलती है—भक्तिका अनुशीलन होता है, उन कर्मोंको उन्होंने उपदेशामृतमें 'तत्तत्कर्म' बतलाया है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

श्रद्धामृत कथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥

मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकाम–विवर्जनम्॥

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्ट दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः॥

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥

(श्रीमद्भा. ११/१९/२०–२४)

उद्धवजी! मैं तुम्हें अपनी प्रेमाभक्ति पानेका श्रेष्ठ उपाय बतलाता हूँ। सबसे पहले साधनभक्तिका अनुष्ठान करना चाहिये। इसीसे प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति होती है। साधनभक्तिके विषयमें श्रवण करो—जो मेरी प्रेमाभक्ति प्राप्त करना चाहता है, वह मेरी अमृतमयी लीलाकथाओंमें श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामोंका सङ्कीर्त्तन करे, मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा रखे, स्तोत्रोंके द्वारा स्तुति करे, समस्त प्राणियोंमें मेरा ही सम्बन्ध दर्शन

करे, मेरे लिए ही समस्त लौकिकी चेष्टा करे, वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे अथवा मन भी मुझे ही अर्पित कर दे, सारी कामनाओंको छोड़ दे, मेरे लिए धन और सुखका भोग त्याग दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप करे, वह सब मेरे लिए ही करे। उद्धवजी! जो मनुष्य इन धर्मोंका पालन करते हैं और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी उसके लिए क्या और किसी दूसरी वस्तुका प्राप्त होना शेष रह जाता है?

भक्तिके ६४ प्रकारके अङ्ग ही तत्तत्कर्म हैं

भगवान्के इस उपदेशको अवलम्बन करके श्रीरूप गोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नाम ग्रन्थमें इन कर्मोंको ६४ भागोंमें विभक्त किया है। इन ६४ अङ्गोंका वर्णन श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार किया गया है—

(१) गुरुके चरणोंमें आश्रय ग्रहण करना, (२) उनसे दीक्षा प्राप्त करना, (३) गुरुकी सेवा, (४) जीवोंके सच्चे धर्मकी शिक्षा और जिज्ञासा, (५) साधुजनोंने जिस मार्गका अवलम्बनकर भगवान्को पाया है, उसी मार्गका अनुसरण, (६) कृष्णकी प्रीतिके लिए अपने भोग–विलासका परित्याग, (७) कृष्ण–तीर्थोंमें निवास, (८) जिससे जीवन–निर्वाहमात्र हो जाये, उतने परिमाणमें कोई वस्तु ग्रहण करना, (९) एकादशीका उपवास, (१०) आँवला, अश्वत्थ, गो, विप्र और वैष्णवका सम्मान करना, (११) सेवा–अपराध और नामापराधसे दूर रहना, (१२) अवैष्णवसङ्ग त्याग, (१३) अनेक शिष्य न करना, (१४) अनेक ग्रन्थोंका आंशिक अध्ययन और व्याख्या आदिकी कलाका वर्जन, (१५) लाभ और हानिमें समबुद्धि, (१६) शोकादिके वशीभूत न होना, (१७) अन्य देवताओं या शास्त्रोंकी निन्दा न सुनना, (१९) ग्राम्यकथा अर्थात् (विषय–भोगकी बातें न सुनना), (२०) किसी भी प्राणीको शरीर, मन और वाणीसे उद्वेग न देना, (२१) श्रवण, (२२) कीर्त्तन, (२३) स्मरण, (२४) पूजन, (२५) वन्दन, (२६) परिचर्या,

(२७) दास्य, (२८) सख्य, (२९) आत्म-निवेदन, (३०) श्रीविग्रहके सामने नृत्य, (३१) गीत, (३२) विज्ञप्ति अर्थात् अपने भावोंको भगवान्‌के सन्मुख कहना, (३३) दण्डवत्प्रणाम, (३४) अभ्युत्थान अर्थात् भगवान् या भक्त पधार रहे हों तो उठकर खड़ा होना या आगे बढ़कर सम्मान करना, (३५) अनुव्रज्या अर्थात् (भक्त या भगवान् यात्रा कर रहे हों तो पीछे-पीछे कुछ दूर तक जाना, (३६) तीर्थ और मन्दिरमें गमन, (३७) परिक्रमा, (३८) स्तव-पाठ, (३९) जप, (४०) सङ्कीर्त्तन, (४१) भगवान्‌को निवेदित हुई माला, धूप और गन्ध ग्रहण, (४२) महाप्रसाद सेवन, (४३) भगवान्‌की आरति और उनके महोत्सवोंका दर्शन, (४४) श्रीमूर्त्ति दर्शन, (४५) अपनी प्यारी वस्तु भगवान्‌को अर्पण करना, (४६) ध्यान, (४७) तुलसीकी सेवा, (४८) वैष्णवोंकी सेवा, (४९) मथुरा आदि धामोंमें निवास, (५०) श्रीमद्भागवतका आस्वादन, (५१) कृष्णके लिए ही अपनी सारी चेष्टाएँ करना, (५२) उनकी कृपाके लिए प्रतीक्षा, (५३) भक्तोंके साथ भगवान्‌के जन्मके दिन महोत्सव मनाना, (५४) सब तरहसे शरणागति (५५) कार्तिक आदि व्रतोंका पालन करना, (५६) वैष्णवचिह्न धारण, (५७) हरिनामके अक्षरोंको शरीरपर धारण करना, (५८) निर्माल्य धारण, (५९) चरणामृत पान, (६०) सत्सङ्ग, (६१) नामकीर्त्तन, (६२) श्रीमद्भागवतका श्रवण, (६३) मथुरामें वास, (६४) श्रद्धा-पूर्वक श्रीमूर्त्तिकी सेवा।

(१) गुरुपदाश्रय

साधकका पहला कर्त्तव्य है—गुरु-पदाश्रय करना। गुरु-पदाश्रयके बिना कल्याण नहीं हो सकता है। मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—अप्राप्त-विवेक और प्राप्त-विवेक। सांसारिक सुखोंमें मत्त व्यक्तिको अप्राप्त-विवेक पुरुष कहा जाता है। यदि सौभाग्यसे लोगोंको सत्सङ्ग प्राप्त हो जाता है, तो उन्हें विवेक-प्राप्त हो सकता है। तब उनके हृदयमें ऐसी भावनाएँ उठती हैं कि हाय!

हाय!! मैं बड़ा ही मन्दभाग्य हूँ, मैं सर्वदा विषय भोगोंमें ही मत्त रहा हूँ, मेरा अब तक का सारा जीवन पशुकी भाँति कट गया, अब मैं क्या करूँ? जिस महात्माके सङ्गसे ऐसे विचार पैदा होते हैं, उस महात्माके सङ्गको श्रवण गुरुका सङ्ग कहते हैं। इसी समय सौभाग्यसे श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा होनेसे भजन करनेकी इच्छा पैदा होती है। उस समय गुरु–पदाश्रय करना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव अप्राप्त–विवेकवाले व्यक्ति सौभाग्यसे प्राप्तविवेक होकर श्रीगुरुदेवके चरणोंमें आश्रय ग्रहण करते हैं।

गुरु कौन है?

"कैसे गुरुका आश्रय करना उचित है?"—यह विचारणीय प्रश्न है। जिन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य—इन षड् रिपुओंको जीत लिया है, जिन्हें कृष्णके प्रति स्वाभाविक अनुराग हो गया है, जो वेद–वेदान्त–उपनिषद्–पुराण आदि शास्त्रोंमें पारङ्गत हैं, साधुजन गुरु मानकर जिनके प्रति श्रद्धा कर सकें, इन्द्रियाँ जिनके वशमें हों, जो समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका भाव रखते हों, जो शान्त, निष्कपट और सत्यवादी हों, ऐसे व्यक्ति गुरु होनेके योग्य हैं। कृष्णके प्रति अनुराग ही (इतर रागसे रहित) गुरुदेवका स्वरूप गुण है। बाकी सभी तटस्थ गुण हैं। इसीलिए श्रीमन् महाप्रभुजीने कहा है—

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेइ कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेइ गुरु हय॥

विप्र हो अथवा संन्यासी हो या शूद्र ही क्यों न हो, यदि वह कृष्णतत्त्वका ज्ञाता है, तो वही गुरु है।

जिनमें यह स्वरूपलक्षण विद्यमान है, उनमें दो–एक तटस्थ–लक्षण न भी रहें तो कोई हर्ज नहीं, वे गुरु होनेके योग्य हैं। ब्राह्मणत्व और गृहस्थत्व—ये दोनों तटस्थलक्षण हैं। तात्पर्य यह कि कृष्णतत्त्वके ज्ञाता अर्थात् प्रेमीभक्तमें यदि ब्राह्मणत्व और गृहस्थत्व दोनों तटस्थलक्षण रहें तो अच्छा ही है। किन्तु कोई

व्यक्ति ब्राह्मण भी है और गृहस्थ भी है, किन्तु उसमें कृष्ण अनुराग—कृष्णतत्त्वज्ञानरूप मुख्य लक्षणका अभाव है, तो वह गुरु होनेके योग्य नहीं है—

महाभागवत श्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम्।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यौ यथा हरिः॥

महाकुल-प्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।
सहस्र-शाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः॥

(२–३) गुरुसेवा तथा दीक्षा ग्रहण करनेकी आवश्यकता

उपयुक्त गुरु मिलनेपर श्रद्धालु शिष्यको निष्कपट होकर दृढ़ विश्वासपूर्वक गुरुकी सेवा करनी चाहिये। गुरुदेवको प्रसन्नकर उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्र और दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग दीक्षाके विरोधी हैं तथा केवल बनावटी कीर्त्तन आदिका ढोंग दिखाकर अपनेको वैष्णव कहकर प्रचार करते हैं, वे नितान्त ही आत्म-वञ्चक हैं। जड़ भरत आदि कुछ लोगोंके चरित्रमें दीक्षाका प्रसङ्ग न देखकर विषयी लोगोंको दीक्षाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। प्रत्येक जन्ममें जीवोंके लिए दीक्षा ग्रहण करनेकी विधि है। यदि किसी सिद्ध महापुरुषके जीवनमें दीक्षा ग्रहणकी बात न देखी जाये, तो उसे अपना आदर्श नहीं मान लेना चाहिये। उन महापुरुषोंने किसी विशेष अवस्थामें ऐसा आदर्श दिखलाया है; इसलिए वह साधारण विधि नहीं मानी जा सकती। ध्रुव इसी पार्थिव शरीरसे ध्रुवलोकमें पधारे थे; क्या ऐसा देखकर सभी लोग उन्हींके समान अपने पार्थिव शरीरसे ही ध्रुवलोक जानेकी आशामें बैठे रहेंगे? जड़ शरीरको छोड़कर चिन्मय शरीरसे ही जीव वैकुण्ठमें गमन करते हैं—यही साधारण विधि है। साधारण लोगोंके लिए साधारण विधिका अनुसरण करना ही कल्याणप्रद है। अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न भगवान् जब जैसी इच्छा करते हैं, तब वैसा ही होता है। अतएव हमें साधारण विधियोंका उल्लंघन नहीं

करना चाहिये। बल्कि श्रीगुरुदेवको अपनी निष्कपट सेवासे प्रसन्नकर उनसे भगवन्नाम–मन्त्रादि दीक्षा और तत्त्वकी शिक्षा अवश्य ही ग्रहण करनी चाहिये।

(४) साधुओंके मार्गका अनुगमन

सौभाग्यवान शिष्य सद्‌गुरुसे दीक्षा और शिक्षा प्राप्तकर साधुजनोंके मार्गका अनुसरण करेंगे। दाम्भिक व्यक्ति ही महाजनोंकी अवज्ञाकर स्वयं नये–नये मतोंकी सृष्टि करते हैं। फल यह होता है कि थोड़े ही दिनोंमें कुपथमें चलकर अपना सर्वनाश कर डालते हैं। स्कन्दपुराणका कथन है—

स मृग्यः श्रैयसां हेतुः पन्थाः सन्ताप–वर्जितः।
अनवाप्त–श्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे॥

साधुजन अब तक जिस सनातन पथपर आरूढ़ होते रहे हैं, वही पथ हमारे लिए श्रेय है। महाजनोंके पथका अनुशीलन करनेसे दृढ़ता, साहस और सन्तोष उदित होता है। जब हम लोग श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी और श्रीहरिदास ठाकुरके भजनपथका अनुगमन करते हैं, तब हमें इतना आनन्द होता है, जो वर्णनातीत है। जब हरिदास ठाकुरको दुष्ट मुसलमान हरिनाम त्याग करनेके लिए पीट रहे थे, उस समय उन्होंने क्या कहा था?—"मेरे शरीरके भले ही टुकड़े–टुकड़े हो जायें, मेरे प्राण भले ही चले जायें—मैं हरिनाम नहीं छोड़ सकता। हे कृष्ण! मुझे मारनेवाले इन भूले–भटके जीवोंका तनिक भी अपराध नहीं है, इन्हें क्षमा करो, इनपर दया करो।"

इस प्रकार दृढ़ताके साथ समस्त प्राणियोंपर दया रखते हुए निरन्तर हरिनाम ग्रहण करना ही पूर्व महाजनोंका भजनपथ है। पथ नया नहीं होता। जो पथ पहलेसे है, साधुजन उसी परिचित मार्गका अवलम्बन करते हैं। किन्तु दाम्भिक और प्रतिष्ठा कामी व्यक्ति नये–नये पथ आविष्कार करनेके लिए ही अधिक प्रयत्न

करते हैं। बड़े ही सौभाग्यसे किसी-किसीको पूर्व महाजनोंके पथमें श्रद्धा होती है। श्रद्धा होनेपर अपनी दाम्भिकताका परित्यागकर उसपर चलना आरम्भ कर देते हैं। परन्तु जो मन्द भाग्य हैं, वे स्वकपोल-कल्पित मार्ग रचकर स्वयंको और दूसरोंको वञ्चित करते हैं। शास्त्रोंमें इनके प्रति निम्न प्रकारसे सावधान किया गया है—

श्रुति-स्मृति-पुराणादि-पञ्चरात्र-विधिं बिना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

भक्तिरैकान्तिकी वेयमविचारात् प्रतीयते।
वस्तुतस्तु तथा नैव यदशास्त्रीयतेक्ष्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

तात्पर्य यह है कि भक्तिपथ—'वैधी' और 'रागानुगा' दो प्रकारका है। महाजनोंने निज-निज अधिकारके अनुसार इन दोनोंका आचरण किया है। इन दोनों भक्तिपथोंका वर्णन श्रुति, स्मृति और पञ्चरात्रादि ग्रन्थोंमें भरा पड़ा है। परन्तु इन ग्रन्थोंके प्रदर्शित भक्तिपथको छोड़कर 'बुद्ध' और 'दत्तात्रेय' आदिने जिन नवीन मार्गोंका आविष्कार किया, वे सब मार्ग अन्त तक केवल उत्पातके ही कारणके रूपमें प्रचलित हैं। यद्यपि इन नवीन पथोंके यात्री इन नवीन पथोंको ऐकान्तिकी हरिभक्ति होनेका दावा करते हैं, परन्तु वास्तवमें यह उनकी अज्ञताका द्योतक है। वेद आदि शास्त्रों द्वारा निर्धारित पथ ही एकमात्र सत्य पथ है। आजकल ऐसे-ऐसे अनेक नवीन मत निकलते हैं और अन्तमें अपने आचार्यके साथ लुप्त हो जाते हैं।

(५) सद्धर्मकी जिज्ञासा

सच्चे शिष्य द्वारा धर्मकी जिज्ञासा एक भक्तिजनक कर्म है। अतएव नारदपुराणका कथन है—

अचिरादेव सर्वार्थः सिद्ध्यत्येषामभीप्सितः।
सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः॥

सौभाग्यवान पुरुष जिस प्रकार साधुजनोंके आचरणका अनुसरण करना चाहते हैं, उसी प्रकार उनका धर्म भी जानना चाहते हैं। परन्तु दुर्भागे व्यक्ति इनके ठीक विपरीत आचरण करते हैं। ये लोग जिस प्रकार साधुपथसे पृथक् नये–नये पथोंका अनुसन्धान करते हैं, उसी प्रकार साधुजनोंके निर्धारित सिद्धान्तोंका अनादरकर अपना–अपना सिद्धान्त भी चलाते हैं। ये लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाओंको समझनेका प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उनके विरुद्ध मतको स्वीकारकर उसका प्रचार करते हैं। वे इस बातको समझते नहीं कि उनके उस कुप्रचारका कैसा भयङ्कर परिणाम होता है। सच्चे शिष्य सद्धर्मको जाननेके लिए विशेष प्रयत्न करते हैं। यदि वे स्वयं समझनेमें असमर्थ होते हैं तो शिक्षागुरुसे श्रद्धापूर्वक जिज्ञासा द्वारा समझ लेते हैं। ऐसे लोगोंको शीघ्र ही साधनमें सफलता प्राप्त होती है।

सद्धर्म किसे कहते हैं?

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

—कृष्णसेवाके अतिरिक्त लौकिक अथवा स्वर्गीय सुखरूप अन्याभिलाषासे रहित, कर्म और ज्ञान आदिके आवरणसे मुक्त, कृष्णकी अनुकूल सेवाको उत्तमाभक्ति कहते हैं।

जिज्ञासुके हृदयमें जब तक उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त शुद्धभक्तिरूप सद्धर्मका उदय नहीं होता, तब तक उसका हृदय अन्धकारसे ढका रहता है। ऐसी दशामें, शुद्धभक्ति किसे कहते हैं—वे समझ नहीं पाते। अपने उच्छृंखल विचारोंपर निर्भर रहनेसे शुद्धभक्ति कदापि उदित नहीं हो सकती। अधिकांश व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि अपनी बुद्धि और विद्याके बलपर उन्होंने भक्तिका स्वरूप समझ

लिया है। परन्तु वास्तवमें उनमेंसे कुछ लोगोंने ज्ञान-मिश्राभक्तिको और कुछ लोगोंने कर्म-ज्ञान उभय-मिश्राभक्तिको ही शुद्धभक्ति समझ रखा है। वे इतने दाम्भिक होते हैं कि वे श्रीचैतन्य-चरितामृतका अर्थ सुनकर ऐसा मन्तव्य प्रकाश करते हैं—"अपने-अपने मतसे सभी लोग अच्छा अर्थ करते हैं; श्रीचैतन्यचरितामृतका ही अर्थ माननेकी आवश्यकता क्या है? हम मत-मतान्तरोंके पचड़ेमें नहीं पड़ना चाहते। स्वतन्त्र अर्थ ही ठीक होता है।" ऐसे लोगोंका सद्धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फलस्वरूप अपनी नयी प्रणालीके अनुसार भजन करके वे कभी भी शुद्धभक्तिका रसास्वादन नहीं कर पाते।

(६) कृष्ण प्रीतिके लिए भोग-त्याग

भक्तिसाधकका कर्त्तव्य है कि वह श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अपने समस्त प्रकारके भोगोंका परित्याग करे। इन्द्रिय-सुखोंके ग्रहणको भोग कहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयोंका भोग करना चाहती हैं—हमें जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय हैं, उन्हें कृष्ण-अर्पण कर, प्रसादके रूपमें उन्हें जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यकतानुसार ग्रहण करें।

(७) तीर्थ-वास

कृष्ण-तीर्थोंमें वास करना—एक साधनाङ्ग है। द्वारका, मथुरा, वृन्दावन, गङ्गातट, यमुनातट और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी लीला-स्थलियोंमें निवास करनेसे कृष्णस्मृति सदैव नवीन बनी रहती है। साधकको इससे अधिक और चाहिये ही क्या?

(८) यथायोग्य परिग्रह

भक्तिके अनुकूल व्यावहारिक कार्योंके द्वारा जीविका निर्वाहोपयोगी अर्थका उपार्जन करना चाहिये। आवश्यकतासे अधिककी आशा करनेसे भक्ति अन्तर्हित हो जाती है। आवश्यकतासे कम अर्थ

स्वीकार करनेसे जीविका–निर्वाहमें कठिनाइयाँ पैदा होनेसे साधन दुर्बल हो पड़ता है।

(९) एकादशी पालन

एकादशीका यत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। १५ दिनोंमें एक दिन एकादशी तिथिमें समस्त प्रकारके भोगोंका परित्यागकर भजन करते–करते धीरे–धीरे निरन्तर भजनका अभ्यास हो जाता है।

(१०) तुलसी आदिका सेवन

आँवला, अश्वत्थ, तुलसी, गौ, ब्राह्मण और वैष्णव—इनकी पूजा करनेसे मनुष्यके सारे पाप धुल जाते हैं। इससे भगवान्‌की कृपा लाभ होती है।

उपर्युक्त दस अन्वय विधियोंके पालनकी आवश्यकता

उक्त दस प्रकारके भक्तिके अङ्ग हरि भजनके प्रारम्भिक कार्य हैं। जो लोग प्रारम्भमें ही इन अङ्गोंकी अवहेलना करते हैं, उनका भजन और भगवत्प्राप्ति कठिन है।

अतएव साधकको सबसे पहले गुरुपदाश्रय करके उनसे दीक्षा और शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। साधुजनोंके चरित्रका अनुसरण और उनके सिद्धान्तोंकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जीवनको कृष्णमय करनेके लिए कृष्ण–तीर्थमें निवासकर कृष्ण उद्देश्यसे अपने समस्त भोगोंका परित्याग करना चाहिये। व्यवहारिक कार्योंके द्वारा भक्तिके अनुकूल संसारके निर्वाहोपयोगी अर्थ उपार्जन या संग्रह करना चाहिये। भक्तिके लिए एकादशी और जयन्ती (जन्माष्टमी) आदिका विधिवत पालन करना चाहिये। वैष्णव आदि तदीय वस्तुओंका सम्मान करना चाहिये। इस प्रकार ये दस अन्वय विधियाँ अवश्य पालनीय हैं। इनके साथ निम्नलिखित दस प्रकारकी व्यतिरेक विधियोंका पालन नहीं करनेसे भक्तिका साधन स्थिर नहीं रह सकता।

मायावादी और नास्तिक व्यक्तियोंका सङ्ग त्यज्य

भगवत्-विमुख व्यक्तियोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये। व्यवहारिक कार्योंमें उनके साथ अवश्य ही मिलन होगा, किन्तु उन्हीं कार्यों तक ही उनके साथ व्यवहार करना चाहिये। कार्य समाप्त होते ही उनके साथ कोई व्यवहार नहीं रखना चाहिये। जिनके हृदयमें कृष्णभक्तिका स्वरूप उदित नहीं हुआ है, वे ज्ञान और कर्मका आश्रय लेकर सर्वदा दाम्भिक होते हैं। अतएव वे भगवत्-विमुख होते हैं। अनेक देव-देवियोंकी सेवा करनेवाले, निर्भेद ज्ञान-पिपासु मायावादी और वेद-विरोधी नास्तिक आदि सभी भगवत्-विमुख हैं।

अनेक शिष्य करना तथा अनेक शास्त्र-पाठ करना कर्त्तव्य नहीं है

जिन लोगोंकी शुद्धभक्तिके प्रति श्रद्धा नहीं हो, उन्हें शिष्य न करें। ऐसा करनेसे भक्तिसम्प्रदाय दूषित हो पड़ती है। महारम्भादि क्रिया (विराट-विराट महोत्सव आदि क्रिया) के द्वारा भक्ति क्षय होती है। अतः इनका परित्याग करें।

सन्तोष और समज्ञान

गृहस्थ जीवनमें अथवा गृह-त्यागके बाद सब समय खाने-पहनेकी चेष्टा तो करनी ही पड़ेगी। किन्तु इन व्यवहारोंमें सर्वदा सावधान रहना चाहिये। इस विषयमें पद्मपुराणकी शिक्षा अत्यन्त ही सुन्दर है—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने।
अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिनामैव धिया स्मरेत्॥

तात्पर्य यह कि—साधक घरमें रहे अथवा वनमें रहे, उसे खाने और पहननेके लिए कुछ-न-कुछ अवश्य ही करना पड़ेगा।

गृहस्थको कृषि–कार्य, वाणिज्य–व्यवसाय अथवा नौकरी–चाकरीके द्वारा ग्रास और आच्छादनका प्रयत्न करना पड़ेगा। गृह–त्यागीको भिक्षा–वृत्तिपर निर्भर रहकर ग्रास और आच्छादनकी व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि उन कार्योंसे खाने और पहननेको न मिले अथवा मिलकर भी छिन जाये, तो भी भक्तोंके हृदयमें कोई विकार नहीं होना चाहिये। उन्हें शान्तिपूर्वक कृष्णभजनमें लगे रहना चाहिये।

शोकको दूर करना कर्त्तव्य है

संसारी लोगोंको स्त्री–पुत्र और धन–सम्पत्ति आदि नष्ट होनेपर बड़ा ही शोक होता है, किन्तु भक्तिसाधकको ऐसे–ऐसे अवसरोंपर अधिक समय तक शोक नहीं करना चाहिये। उन्हें शीघ्र ही शोक परित्यागकर कृष्ण–अनुशीलनमें नियुक्त होना उचित है। गृह–त्यागियोंको लोटा–कम्बल या भिक्षा–पात्र नहीं रहनेसे अथवा किसी पशु या मनुष्य द्वारा चुराये जानेपर शोक करना उचित नहीं है। शोक, क्रोध आदि समस्त प्रकारके वेगोंको वैष्णवसाधक परित्याग करेंगे; नहीं तो कृष्ण–स्मृतिका नैरन्तर्य विशेष रूपसे बाधित होगा। पद्मपुराणमें कहा गया है—

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्।
कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्तिसम्भावना भवेत्॥

श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्यान्य देव–देवियोंकी आराधना निषिद्ध है

साधक एकमात्र श्रीकृष्णकी आराधना करेंगे। उन्हें अन्य देवताओंका भजन–पूजा नहीं करना चाहिये। किन्तु स्मरण रहे, किसी भी देवता अथवा शास्त्रके प्रति कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। अन्य देवतागण श्रीकृष्णके अधिकृत दास हैं—ऐसा जानकर कभी भी सामने देखनेपर उनका सम्मान करना चाहिये। पद्मपुराणका निर्देश है—

हरिरेव सदाराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन॥

तात्पर्य यह कि—परमेश्वर ही एकमात्र आराध्य वस्तु हैं। दूसरे सभी परमेश्वरके गुणावतार विशेष हैं। मानव अपने-अपने अधिकारके अनुसार अपने अनुकूल देवताकी उपासना करता है। किन्तु सात्त्विक प्रकृतिवाले मानवोंके लिए भगवान् विष्णु ही एकमात्र उपास्य हैं। मानवगण अनेक जन्मों तक अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते-करते अपने-अपने गुणोंको क्रमशः उन्नत बनाते हुए जिस जन्ममें विष्णुको एकमात्र ईश्वर मानकर उनकी उपासना करता है, उसी जन्ममें उसका नित्य-मङ्गल उदित होता है। श्रीकृष्ण ही विष्णुतत्त्वके चरम प्रकाश हैं। सत्त्व गुणकी उपासना द्वारा जीव जब निर्गुण अवस्थाको प्राप्त कर लेता है, तब उसे श्रीकृष्णतत्त्वकी सेवा प्राप्त होती है।

किसीको उद्वेग नहीं देना चाहिये

सब प्राणियोंपर दया रखनी चाहिये। उन्हें तनिक भी उद्वेग नहीं देना चाहिये। सबके प्रति करुणापूर्ण व्यवहार रखना कर्त्तव्य है। समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका भाव कृष्णभक्तिका एक अङ्ग है। इस स्वभावको प्राप्त करनेके लिए साधकको सावधानीसे अभ्यास करना चाहिये।

सेवापराध और दस नामापराध अवश्य वर्जनीय हैं

जो भजन करना चाहते हैं, उन्हें सेवापराध और दस प्रकारके नामापराधोंका अवश्य ही वर्जन करना चाहिये। साधारण कोटिके भक्तोंके लिए श्रीमूर्त्तिकी सेवाके कुछ नियम होते हैं। उन नियमोंका उल्लंघन करनेसे सेवापराध होता है। अतः भगवन्मन्दिरमें प्रवेश करनेके समय सेवापराधोंसे अवश्य बचना चाहिये। नामापराध दस प्रकारके हैं। इनका विचार अनेक स्थलोंपर दिया गया है। ये अपराध खूब सावधानीसे प्रत्येक साधकके लिए वर्जनीय हैं।

इस विषयमें शिथिलता करनेसे उनका साधन–भजन सब कुछ व्यर्थ है। पद्मपुराणमें कहते हैं—

सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयः।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद्द्विपद पांसनः॥

नामाश्रयः कदाचित् स्यात् तरत्वेय स नामतः।
नाम्नो हि सर्वसुहृदो ह्यपराधात् पतत्यधः॥

सारांश यह कि श्रीहरिका आश्रय ग्रहण करनेसे समस्त प्रकारके अपराध नष्ट हो जाते हैं। भगवान्के प्रति जो–जो अपराध किये जाते हैं अर्थात् समस्त प्रकारके सेवापराध श्रीनामका आश्रय ग्रहण करनेसे दूर हो जाते हैं। नाम—वैष्णवमात्रका उद्धार करते हैं, किन्तु शर्त यह है कि वे समस्त प्रकारके अपराधोंका अवश्य ही वर्जन करें। यदि ऐसा नहीं किया जाये तो भगवान्का नाम ग्रहण करनेपर भी पतन अनिवार्य है।

विष्णु और वैष्णवोंकी निन्दा नहीं करना तथा गुरु–पदाश्रय

साधकोंको कृष्णकी अथवा वैष्णवोंकी निन्दा नहीं सुननी चाहिये। जहाँ वैसी निन्दा चल रही हो वहाँसे तुरन्त हट जाना चाहिये। जिनका हृदय दुर्बल होता है, वे लोक–लज्जाके भयसे श्रीकृष्ण और वैष्णवोंकी निन्दा सुनकर क्रमशः भक्तिसे दूर होते चले जाते है।

उपरोक्त २० प्रकारके भक्ति–अङ्गोंका आदरपूर्वक पालन करनेसे भावोदय होता है। भावोदयका मूल कारण—कृष्णकी कृपा है। कृष्णकृपा साधुसङ्गके बिना नहीं हो सकती। इनमें भी गुरु–पदाश्रय, दीक्षा और गुरुकी सेवा ही सबका मूल है।

दास्य–सख्यादि भक्तिके अङ्गसमूह

इसके पश्चात् जो भजनके अङ्ग लिखे गये हैं, उनमें १ से लेकर ५० तक अर्थात् 'वैष्णवचिह्न धारण' से लेकर 'ध्यान' तक

सभी अर्चनके अङ्ग हैं। श्रीगुरुदेवसे प्राप्त इन अङ्गोंका यथाशक्ति साधन करना चाहिये। दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—ये भावोद्बोधक क्रियाएँ हैं; ये क्रियाएँ यथार्थ रूपमें किये जानेपर ही भाव उदित होता है। केवल साधन-कालमें ही ये साधनभक्तिकी क्रियाओंमें परिगणित होती हैं।

संसारमें जो भी अपना इष्टतम प्रतीत होता हो और जो भी अपना अतिशय प्रिय हो—उन सबको भगवान् श्रीकृष्णको अर्पण कर दो—इसका फल बहुत ही अच्छा होता है। तात्पर्य यह कि—अपनेको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका भोग स्वयं न कर श्रीकृष्णके उद्देश्यसे दान करते हुए उनके प्रसादके रूपमें उन्हें भोग करो।

कृष्णके लिए अखिल चेष्टाएँ तथा कृष्णके लिए ही संसार करना कर्त्तव्य है

व्यवहारिक और पारमार्थिक सब तरहकी चेष्टाएँ श्रीकृष्णके उद्देश्यसे होनेपर ही यथार्थ कल्याण हो सकता है। नारदपञ्चरात्रमें कहते हैं—

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने।
हरिसेवानुकूल्यैव सा कार्या भक्तिमिच्छता॥

(भ॰ र॰ सि॰ १/२/९३)

तात्पर्य यह कि मनुष्य संसारमें रहकर लौकिकी या वैदिकी जो भी क्रिया करें, उसे कृष्ण-विमुख भावसे न करें। उन क्रियाओंको सर्वदा कृष्णसेवाके अनुकूल करते हुए आचरण करना ही उचित है। विवाह आदि स्मार्त्त-संस्कार और क्रियाएँ—वैदिकी हैं तथा लोक-रक्षाके लिए सांसारिक और शारीरिक क्रियाएँ—लौकिकी हैं। कृष्ण-संसार निर्माण करनेके लिए विवाह, कृष्ण-सेवक बढ़ानेके लिए सन्तान-चेष्टा, कृष्ण-दासोंकी तृप्तिके लिए पितृ-श्राद्ध, कृष्णके जीवोंके तर्पणके लिए भोजन-महोत्सव—इसी प्रकार

समस्त कर्मोंको कृष्णसेवाके अनुकूल ही करना चाहिये। ऐसा होनेपर बहिर्मुख कर्म–काण्डमें गिरनेका डर नहीं रहता। यह देह और घर आदि सब कुछ कृष्णका ही है—ऐसी भावना कर देह, गृह और समाज आदिकी रक्षा करनी चाहिये। इसीका नाम कृष्ण–संसार है।

शरणागति और ९ प्रकारकी तुलसीसेवा

साधकका सम्पूर्ण जीवन शरणागतिसे विभूषित रहना चाहिये। इस पत्रिकामें छः प्रकारकी शरणागतिकी जगह–जगह व्याख्या की गयी है। शरणागतिके अभावमें जीवोंका जीवन व्यर्थ है। जीव सर्वदा शरणागत होकर कृष्णका भजन करेंगे।

कृष्णसम्बन्धी वस्तुओंको 'तदीय–वस्तु' कहा जाता है। तदीय–सेवामें तुलसीकी सेवा प्रधान है। स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्त्तिता नमिता श्रुता।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा॥

नवधा तुलसीं देवीं ये भजन्ति दिनेदिने।
युग कोटिसहस्त्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे॥

सारांश यह कि—तुलसीजीका प्रतिदिन ९ प्रकारसे भजन करनेसे भगवत्‌-गृहमें निवास प्राप्त होता है। तुलसीका दर्शन, स्पर्श, ध्यान, कीर्त्तन, नमस्कार, महिमा–श्रवण, रोपण, उनकी जल–सेवा तथा पूजा—इन ९ प्रकारसे तुलसीजीका भजन होता है।

भक्तिशास्त्र पाठ, मथुरा–वास तथा भक्त–सेवा

कृष्णभक्ति प्रतिपादक शास्त्र ही 'तदीय वस्तु' कहे जाते हैं। इनमें श्रीमद्भागवत प्रधान है। श्रीचैतन्यचरितामृतको भी वही सम्मान प्राप्त है। इन भक्तिशास्त्रोंका नित्य पठन और श्रवण करनेवाले धन्य हैं।

मथुरादि कृष्ण-तीर्थ साधकोंके निवास करने योग्य स्थान हैं। इनमें मथुरा-वास सर्वश्रेष्ठ है। श्रीधाम नवद्वीप-वास भी उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्माण्डपुराणमें मथुराधामकी महिमा इस प्रकार उल्लिखित है—

श्रुता स्मृता कीर्त्तिता च वाञ्छिता प्रेक्षिता गता।
स्पष्टाश्रिता सेविता च मथुराभीष्टदायिनी॥

कृष्णभक्त भी 'तदीय' माने जाते हैं। आदिपुराणमें कहा गया है—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः॥

भक्त-सेवाके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि कथितानि हि।
प्रायस्तावन्ति तद्भक्तभक्तेरपि बुधा विदुः॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

तात्पर्य यह कि—कृष्णभक्तिके अङ्ग ही कृष्णभक्तकी भक्तिके अङ्ग हैं। 'प्रायः' शब्द इस भेदका सूचक है कि कृष्ण-प्रसादके द्वारा ही कृष्णभक्तकी पूजा होती है। प्रणति आदि दूसरे-दूसरे अङ्ग एक ही प्रकारके हैं।

श्रीमूर्त्ति-सेवा, यात्रा-महोत्सव, रसिक भक्तोंके साथ भागवत आस्वादन

साधकको यथाशक्ति महोत्सव करना उचित है। सत्सङ्गमें महोत्सव मनाना एक प्रधान कार्य है। हाँ, इस कार्यमें सतर्क रहनेकी आवश्यकता इस बातकी है कि महोत्सवके बहाने असाधु सङ्ग न हो जाये।

श्रीभगवान्‌के जन्म आदि तिथियोंके अवसरपर उत्सव मनाना चाहिये। श्रीमूर्त्तिकी सेवा प्रीतिपूर्वक होनी चाहिये। मूढ़ लोग

मूर्खतावशतः निराकारमें विश्वास रखते हैं तथा श्रीमूर्त्तिका अनादर करते हैं। यदि वे लोग सत्सङ्गमें रहें तथा सत्-विचारोंका श्रवण और विवेचन करें, तो वे लोग भी श्रीमूर्त्तिसेवाकी नित्य आवश्यकता समझ पायेंगे।

रसिक भक्तोंके सङ्गमें श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंका आस्वादन करना आवश्यक है। हेतुवादी, तार्किक और शुष्क वाद-विवादमें निरत व्यक्तियोंसे भक्तिशास्त्रोंके श्रवण आदि द्वारा हृदय शुष्क हो जाता है—रसका उदय नहीं होता है।

साधुसङ्ग

साधकके लिए भगवद्भक्तका सङ्ग नितान्त आवश्यक है। ज्ञानी, कर्मी आदि कुप्रवृत्तियुक्त व्यक्ति भक्त नहीं हैं। स्वजातीय भक्ति-वासनावाले स्निग्ध पुरुषोंका—जो हमसे श्रेष्ठ हों—सङ्ग करना चाहिये। अन्यथा हमारा चित्त शुद्धभक्तिका आश्रय नहीं कर सकता है। 'हरिभक्तिसुधोदय' में सत्सङ्गकी विधि इस प्रकार दी गयी है—

यस्य सत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत् स्यात् स तद्गुणः।
स्वकुलर्द्ध्यै ततो धीमान् स्वयूथान्येव संश्रयेत्॥

भावार्थ यह कि जो जैसा सङ्ग करेंगे, वैसा ही फल प्राप्त करेंगे, ठीक वैसे ही जैसे स्फटिक मणिका रङ्ग भी वैसा ही दीख पड़ता है जैसा कि उसके पास रखे हुए किसी पदार्थका रङ्ग होता है। इस विषयमें अति सतर्क होनेकी आवश्यकता है। समस्त प्रकारके भक्ति-अङ्गोंमें भक्तसङ्ग एक प्रधान अङ्ग है।

पाँच प्रकारकी भक्ति और उनमें नामसङ्कीर्त्तन तथा वैष्णव–सेवनकी सर्वप्रधानता

भक्तिके ६४ अङ्गोमें ५ अङ्ग प्रधान हैं। वे पाँच अङ्ग हैं—(१) श्रीमूर्त्तिकी सेवा, (२) रसिकजनोंके साथ भागवतका अर्थ

आस्वादन, (३) स्वजातीय वासनासे स्निग्ध अपनेसे श्रेष्ठ भक्तका सङ्ग, (४) नामसङ्कीर्त्तन और (५) मथुरा-वास। इन पाँच प्रकारके साधनोंमें दो सबसे प्रधान हैं—(१) श्रीनामसङ्कीर्त्तन और (२) वैष्णव-सेवा। पद्मपुराणका कथन है—

येन जन्मसहस्राणि वासुदेवो निषेवितः।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत॥

इसका तात्पर्य यह है कि—जो जन्म-जन्मान्तरों तक श्रीमूर्त्तिका अर्चन किया करते हैं, उनकी जिह्वापर फलस्वरूप श्रीहरिनाम सर्वदा विराजमान रहते हैं अर्थात् उच्चरित होते हैं। और भी कहते हैं—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेवस्फुरत्यदः॥
(भ० र० सि० १/२/१०८-१०९)

श्रीनाम और श्रीकृष्ण दोनों एक वस्तु हैं। वे चिन्तामणिस्वरूप, चैतन्यरसके विग्रह, पूर्ण, शुद्ध अर्थात् जड़से परे, अप्राकृत और चिन्मय हैं। जड़ जिह्वा पूर्ण चिन्मयस्वरूप श्रीनामको ग्रहण नहीं कर सकती है। किन्तु शुद्ध चित्-देहमें जब जीव श्रीकृष्णके प्रति सेवोन्मुख होता है, तब चिन्मय नाम स्वयं कृपाकर उसकी जिह्वापर अवतीर्ण होकर नृत्य करने लगते हैं। चिन्मय वस्तुकी इसी प्रकार स्वतन्त्र कृपा होती है।

श्रीमथुरामण्डल, भगवन्नाम, भागवत आदि भक्तिशास्त्र, शुद्धभक्त और श्रीमूर्त्ति—ये पाँच अलौकिक पदार्थ हैं। इनके सङ्गसे भाव और कृष्णभक्ति हठात् उदित हो पड़ते हैं।

रागानुगाभक्ति और तत्तत्कर्म–प्रवर्त्तन

इस प्रकार साधनभक्तिमें वैधभक्तिका महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त साधन कार्यमें रागानुगा 'साधनभक्ति' अत्यन्त प्रबल होती है। व्रजवासियोंकी स्वाभाविक कृष्णसेवाको लक्ष्यकर उनका अनुसरण करनेकी प्रवृत्ति द्वारा जो साधन–पर्व उदित होता है, उसे 'रागानुगाभक्ति' कहते हैं। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

भजनपरायण व्यक्ति तन, मन, वचनसे इन कर्मोंका आचरण करेंगे। साधक अपने–अपने अधिकारोंके अनुसार वैधीसाधनभक्ति अथवा रागानुगासाधनभक्तिके अङ्गोंका विशेष यत्नके साथ आचरण करेंगे।

कोई–कोई एक अङ्गका और कोई–कोई अनेक अङ्गोंका साधन करके भावरूप परम फलको प्राप्त करते हैं। जो एकमात्र नाम और वैष्णव सेवाका आश्रय करते हैं, उनकी भक्ति 'ऐकान्तिकी' कहलाती है। उनकी दूसरे–दूसरे साधनोंमें रुचि नहीं होती। अतएव साधकजन एकान्त शरणागत होकर उत्साह, दृढ़–निश्चयता और धैर्यके साथ भक्तिसाधनके कार्यमें लगें।

(५) सङ्गत्याग

'उपदेशामृत' में श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है कि उत्साह, निश्चय, धैर्य, अनुकूल कर्मोंका प्रवर्त्तन, सङ्गत्याग और सद्वृत्ति (साधु जीवन और साधु प्रवृत्ति) से भक्तिकी उन्नति होती है। इसमें उत्साह, निश्चय, धैर्य और अनुकूल कर्मोंका प्रवर्त्तनके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् लेख लिखे गये हैं। प्रस्तुत लेखमें सङ्गत्यागका तात्पर्य बतलाया जा रहा है।

कुसङ्गके भेद

सङ्ग दो प्रकारके होते हैं—संसर्ग और आसक्ति। संसर्ग दो प्रकारका होता है—अभक्त-संसर्ग और योषित् (स्त्री)-संसर्ग। आसक्ति भी दो प्रकारकी होती है अर्थात् संस्कारासक्ति और द्रव्यासक्ति। भक्तिसाधकोंको इन सबका यत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये, अन्यथा ध्वंस अनिवार्य है। गीताका निम्नलिखित उपदेश सर्वदा स्मरण रखने योग्य है—

सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(गीता २/६२-६३)

साधक यदि निषिद्ध सङ्ग करता है, तो धीरे-धीरे विषयोंमें उसकी 'आसक्ति' बढ़ती जाती है। आसक्ति जितनी ही बढ़ती है, परमार्थ-निष्ठा उतनी ही क्षीण होती जाती है। तात्पर्य यह कि जीव चिन्मय पदार्थ है; किन्तु मायाके बन्धनमें पड़कर अपना स्वरूप भूल जाता है तथा अनित्य जड़वस्तुओंमें 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान करने लगता है। शुद्ध अवस्थामें जीवका मायाके

साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वहाँ (चित्-जगत्में) जीवका समस्त संसर्ग ही चिन्मय होता है। अतः उस अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंका नित्य सङ्ग ही वाञ्छनीय है। मायाबद्ध अवस्थामें जीवोंका सङ्ग दूषित होता है। अभक्त-संसर्ग, योषित्-संसर्ग, संस्कारासक्ति और द्रव्यासक्ति रूप अविद्याका सङ्ग जीवोंके कल्याण-मार्गमें बाधक है। चित्-सङ्ग जीवोंका स्वजातीय-सङ्ग है। अचित्-सङ्ग जीवोंके लिए विजातीय सङ्ग है। विजातीय-सङ्गसे मुक्त होना ही जीवोंकी मुक्ति है। नीचे विजातीय-सङ्गका विवेचन किया जा रहा है।

अभक्त-संसर्ग (ज्ञानी अभक्त है)

हमें सबसे पहले यह विचार करना है कि अभक्त कौन है? अभक्त उन लोगोंको कहा जाता है, जो भगवान्के अनुगत नहीं होते अर्थात् विमुख होते हैं। ज्ञानवादी पुरुष भगवान्के अनुगत नहीं होते। उनका कहना है—"मैं ज्ञान प्राप्तकर भगवान्के बराबर हो जाऊँगा; मैं ही ब्रह्म हूँ, ज्ञान ही सर्वोत्तम वस्तु है। जो ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें भगवान् अपने अधीन नहीं रख सकते। ज्ञान के कारण ही भगवान्की ब्रह्मता सिद्ध है और ज्ञानके द्वारा मैं भी स्वयं ब्रह्म हो जाऊँगा।" अतः जहाँ स्वयंभगवान् बनने अथवा उनके बराबर होनेकी इच्छा बलबती होती है, वहाँ भगवान्की अधीनता कहाँ रही? ज्ञानियोंके सारे प्रयत्न भगवान्से स्वतन्त्र होनेके लिए ही होते हैं। यह तो हुई ब्रह्मज्ञानियोंकी बात; आत्मज्ञानी और प्राकृत ज्ञानी भी भगवत् कृपाकी अपेक्षा नहीं रखते। वे ज्ञान और युक्तिकी सहायतासे ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेकी चेष्टा करते हैं। वे भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिए कोई प्रयत्न नहीं करते। अतः समस्त प्रकारके ज्ञानी ही अभक्त श्रेणीमें आ जाते हैं। यद्यपि कोई-कोई ज्ञानी साधन-कालमें भक्तिपथका अवलम्बन करते हैं, तथापि वे सिद्धि-कालमें भक्तिका विसर्जन कर देते हैं। उनकी किसी भी क्रियामें नित्य-भक्ति अथवा

ईशानुगत्यका एक भी लक्षण दिखलायी नहीं पड़ता। सभी प्रकारके ज्ञानियोंके सम्बन्धमें यही बात लागू है। वे यथार्थ ज्ञान नहीं प्रत्युत् ज्ञानका आभासमात्र लाभ करते हैं। यथार्थ ज्ञान तो शुद्धभक्तिकी एक अवस्था है, जिसे शुद्धभक्तजन केवल भगवत्कृपासे अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें सनातन गोस्वामीको श्रीमन् ममहाप्रभुने उपदेश दिया है—

ज्ञानी जीवन्मुक्त–दशा पाइनु करि माने।
वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहे कृष्ण–भक्ति बिने॥

अतएव जो लोग ज्ञानवादके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं, उन्हें अभक्तकी श्रेणीमें रखा गया है। उनका प्रधान उद्देश्य 'मुक्ति' होता है। भगवत्सेवा द्वारा भगवत्कृपा लाभ करना उनके जीवनका उद्देश्य नहीं होता।

कर्मी भी अभक्त हैं

कर्मवादी लोग भी भक्त नहीं हैं, अतः अभक्त हैं। जो कर्म केवल भगवत्कृपाको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे किये जाते हैं, उन्हें 'भक्ति' कहते हैं। परन्तु जो कर्म, किसी पार्थिव वस्तु या फल अथवा बहिर्मुख ज्ञानके उद्देश्यसे किये जाते हैं, वे 'भगवत्–विमुख कर्म' हैं। कर्मीजन केवल कृष्णकृपाका ही अनुसन्धान नहीं करते। यद्यपि वे कृष्णको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, तथापि उनका मूल उद्देश्य सांसारिक सुखोंको ही प्राप्त करना होता है। अपने सुखके उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्म ही 'कर्म' कहलाते हैं। इसीलिए कर्मी—अभक्त हैं।

योगी, देव–देवीपूजक, नैयायिक, विषयी आदि सभी अभक्त हैं

योगीजन कहीं–कहीं ज्ञानका फल—मोक्ष और कर्मका फल—विभूति (ऐश्वर्य) मानकर ज्ञान अथवा कर्मका साधन करते हैं। अतः इन्हें भी अभक्त ही कहा जा सकता है।

अनेक देव-देवियोंकी पूजा करनेवाले भी अभक्त हैं, क्योंकि वे अनन्य शरणागत नहीं होते। जो केवल शुष्क 'न्याय' आदि विचारोंके प्रति श्रद्धालु होते हैं, वे भी भगवत्-विमुख अभक्त हैं। जो लोग भगवान्‌को एक काल्पनिक तत्त्व मानते हैं, उनकी तो बात ही छोड़िये, जो विषयोंमें आसक्त होनेके कारण भगवान्‌को स्मरण करनेका अवकाश नहीं पाते, वे भी अभक्त ही हैं। इन सब प्रकारके अभक्तोंके संसर्गसे थोड़े ही समयमें बुद्धि नष्ट हो जाती है और अभक्तोंके सारे दुर्गुण संसर्ग करनेवाले व्यक्तियोंमें प्रवेश कर जाते हैं। यदि किसीको सचमुच ही भक्ति लाभ करना है, तो उसे अभक्त लोगोंका कुसङ्ग अवश्य ही वर्जन करना होगा।

द्वितीय-सङ्ग—योषित्-संसर्ग (त्यागियोंके लिए)

योषित् (स्त्री) संसर्ग अत्यन्त हानिकारक होता है। श्रीमन् महाप्रभुने श्रीसनातनको शिक्षा दी थी—

असत्-सङ्ग-त्याग—एई वैष्णव आचार।
स्त्री-सङ्गी—एक असाधु 'कृष्णाभक्त' आर॥
(चै॰ च॰ म॰ २२/८४)

वैष्णव दो प्रकारके होते हैं—गृहस्थ-वैष्णव और त्यागी-वैष्णव। गृहत्यागीके लिए किसी भी स्त्रीसे सम्भाषण करना निषेध है। श्रीमन् महाप्रभुजी कहते हैं—

क्षुद्र-जीव सब मर्कट वैराग्य करिया।
इन्द्रिय चराञा बुले 'प्रकृति'-संभाषिया॥
(चै॰ च॰ अ॰ २/१२०)

वैष्णवी स्त्रियोंके साथ उनका व्यवहार त्यागियोंके लिए आदर्श है—

पूर्ववत् कैल प्रभु सबार मिलन।
स्त्री-सब दूर हैते कैल प्रभु दर्शन॥
(चै॰ च॰ अ॰ १२/४२)

योषित्-सङ्ग (गृहस्थोंके लिए)

गृहस्थ वैष्णवोंके सम्बन्धमें विधि—गृहस्थ व्यक्ति पराई स्त्री या वेश्याका सङ्ग न करेंगे। विवाहिता पत्नीके साथ शास्त्र-विधियोंका उल्लंघनकर किसी दूसरे प्रकारका सङ्ग न करेंगे। आसक्ति और स्त्रैणभावका सर्वथा परित्याग करेंगे। स्मार्तजनोंके प्रति शास्त्रोंका यह उपदेश है—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
तया हि सहितः सर्वान् पुरषार्थान् समश्नुते॥

गृहस्थके लिए गृहिणी आवश्यक है। गृहस्थ पुरुष अपनी गृहिणीकी सहायतासे पुरुषार्थोंका साधन करेंगे। साधारण लोगोंके लिए पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। वर्णाश्रम-सम्बन्धी शास्त्रोंमें जिसे विधि माना गया है, उसे धर्म कहते हैं। निषेधोंका नाम ही अधर्म है। गृहस्थ व्यक्ति गृहिणीकी सहायतासे शास्त्र-विधियोंका आचरण और निषेधोंका परित्याग करेंगे। धर्मका आचरण करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसे 'अर्थ' कहते हैं। रुपया-पैसा, अन्नादि द्रव्य, पुत्र-कन्या, गो-पशु—यह सब अर्थ है। अर्थको भोग करनेकी कामना ही 'काम' है। अर्थ, धर्म और काम—इन तीनोंकी समष्टिका नाम 'त्रिवर्ग' है। कर्म-चक्रमें भ्रमण करते हुए जीव त्रिवर्गकी प्राप्तिको ही अपने जीवनका चरम लक्ष्य मानते हैं। त्रिवर्ग ही इनके प्राण हैं। गृहिणीके साथ त्रिवर्गको प्राप्त करना ही स्मार्त-गृहस्थका कर्त्तव्य है। गृहस्थ व्यक्ति दिन-रात स्त्रीके साथ त्रिवर्गके लिए साधन करेंगे। तीर्थ-यात्रा आदि कार्योंमें गृहिणी साथ रह सकती हैं। मनुष्यके हृदयमें

जब तक परमार्थके प्रति रुचि नहीं पैदा हो जाती तब तक त्रिवर्गके अतिरिक्त विशुद्ध-धर्मका साधन वह कैसे कर सकता है?

जीवोंका चतुर्थ पुरुषार्थ है—मोक्ष। मोक्ष दो प्रकारका होता है—पहला 'अत्यन्त दुःखकी निवृत्ति' जिसमें दुःखोंकी सम्पूर्ण रूपसे निवृत्ति हो जाती है और दूसरा 'चित्-सुखकी प्राप्ति'—जिसमें दुःखोंकी पूर्ण निवृत्ति तो होती ही है, चित्-सुखकी प्राप्ति भी होती है। शुष्क ज्ञानियों या मायावादियोंका चरम उद्देश्य—'अत्यन्त-दुःख-निवृत्ति' और विशुद्ध ज्ञानियों अर्थात् भक्तोंका—'चित्-सुखकी प्राप्ति' होता है। वह भक्त चाहे गृहस्थ हो, अथवा गृह-त्यागी।

अपनी गृहिणीके साथ चित्-सुखके उद्देश्यसे ही गृहस्थ वैष्णव साधन करेंगे। इस प्रकार समस्त कर्मोंको करके भी वह स्त्रैण नहीं है। ऐसे जीवनमें योषित्-सङ्गका दोष नहीं आ सकता। अवैध स्त्रीके साथ सम्भाषण और विवाहिता पत्नीके प्रति अपरमार्थिक स्त्रैण-भावका सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें गृहस्थ वैष्णवोंके पालनीय कर्त्तव्योंका निर्द्देश पाया जाता है—

धर्मस्य ह्यपवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/९-१०, १३-१४)

उपरोक्त श्लोकमें कर्माधिकारमें स्थित पुरुषोंके लिए त्रिवर्गको ही धर्म बतलाया गया है। जो कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे विरक्त होकर ज्ञानाधिकारमें प्रवेश कर गये हैं, उनके लिए कर्ममार्गसम्बन्धी विधि-निषेध आवश्यक नहीं हैं। वे लोग कर्माधिकारकी सीमासे परे शुष्क ज्ञानगत संन्यासके अधिकारी हैं। जन्म-जन्मान्तरोंमें उपार्जित राशि-राशि सुकृतिके बलसे भगवान्की कृपासे जिनकी भगवत्-कथाके श्रवण और कीर्त्तनमें श्रद्धा होती है, वे कर्माधिकारसे ऊपर होते हैं। ऐसे पुरुष ही वैष्णव कहलानेके योग्य हैं। इनमें गृहस्थ वैष्णव धर्म-आचरण द्वारा जो कुछ अर्थ उपार्जन करते हैं, वह उनकी कामना पूर्तिके लिए नहीं, बल्कि भक्तिके अनुकूल पवित्र जीवन-यात्राके निर्वाहके साथ-साथ तत्त्व-जिज्ञासामें सहायक होता है। यहींपर धर्म और परमार्थमें भेद है। गृहस्थ वैष्णव जीवन-यात्राके निर्वाहके लिए वर्णाश्रमोचित धर्मका पालन करते हुए गृहिणीके साथ एकमात्र भगवत्-कृपाको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन करेंगे। किन्तु जब उनका घर-बार उनके साधनके प्रतिकूल हो जाये, तब उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न होनेपर वे घर-बार छोड़ देंगे।

त्रिवर्ग धर्मके लिए निर्धारित क्रियाओंका ठीक-ठीक आचरण करनेसे सहसा वैष्णवका चरित्र निर्मल हो जाता है। इस प्रकारके निर्मल चरित्रवाले वैष्णवजन अनन्य शरणागत होकर भगवान्के नाम, रूप, गुण और लीलाका श्रद्धापूर्वक श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करेंगे। गृहिणीके संयोगसे सर्वदा परमार्थके लिए साधन करना गृहस्थ वैष्णवोंका कर्त्तव्य है। गृहिणीको भी पतिकी अनुगामिनी होकर कन्या आदि अन्य स्त्रियोंकी सहायतासे परमार्थका साधन करना उचित है। ऐसा होनेसे स्त्री-पुरुष दोनोंको परस्पर योषित्-सङ्गका दोष स्पर्श नहीं करेगा। अतएव क्या गृहस्थ, क्या गृह-त्यागी, सभी साधकोंके लिए योषित्-सङ्ग अवश्य ही वर्जनीय है। भक्तजन विशेष यत्नपूर्वक ऐसे संसर्गोंसे दूर रहेंगे।

आसक्तिरूप कुसङ्ग और उसके भेद

अब आसक्तिरूप कुसङ्गका विचार किया जा रहा है। आसक्ति दो तरहकी होती है—संस्कारासक्ति और जड़ द्रव्यासक्ति। संस्कार दो तरहके होते हैं—प्राक्तन और आधुनिक। जीव मायाके बन्धनमें पड़कर अनादिकालसे जो ज्ञान और कर्मकी क्रियाएँ कर चुका है, उनके फलस्वरूप जीवके लिङ्गशरीर पर जो संस्कार पैदा होता है, उसे 'प्राक्तन-संस्कार' कहते हैं इसी संस्कारको स्वभाव कहा जा सकता है। जैसे गीतामें कहा गया है—

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
(गीता ५/१४)

श्रीबलदेव विद्याभूषण इसे और भी स्पष्ट कर देते हैं—

"अनादिप्रवृत्ता प्रधानवासनात्र स्वभाव शब्देनोक्तप्राधानिकदेहादिमान् जीवः कारयति कर्त्ता चेति न विविक्तस्य तत्त्वम्" इति—(श्रीबलदेव) भाष्यकारः।

पुनः गीता १८/६०—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

ज्ञान-संस्कारको गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें बन्धन माना गया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयं।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

श्रीबलदेव विद्याभूषण इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

ज्ञान्यहं सुख्यहम् इत्यभिमानस्तेन पुरुषं निवध्नाति।

इस प्रकार पूर्व जन्मोंके कर्म और ज्ञानकी क्रियाओंके अनुरूप संस्कार पैदा होता है। उसी संस्कारके अनुसार आसक्ति और

आसक्तिके अनुसार मनुष्यको कर्म अथवा ज्ञान आदिमें रुचि पैदा होती है। पूर्वोक्त श्लोकमें यह दिखलाया गया है कि मायावादियोंका ज्ञान बन्धन ही है।

संस्कारसे उत्पन्न आसक्ति

गीतामें कर्म-सङ्गीके सम्बन्धमें कहा गया है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योजयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
(गीता ३/२६)

पूर्व-पूर्व जन्मोंके कर्म और ज्ञानादिके संस्कारोंके अनुरूप वर्त्तमान जन्ममें कर्म-सङ्ग या ज्ञान-सङ्ग होता है। संस्कार-सङ्ग अत्यन्त प्रबल और अपरिहार्य होता है। इससे पीछा छुड़ाना कठिन ही नहीं असम्भव-सा होता है। यहाँ तक कि आत्महत्या तक करनेपर भी पूर्व संस्कारोंको त्यागा नहीं जा सकता है। संस्कार दो प्रकारके होते हैं। पूर्व संस्कार और आधुनिक संस्कार। पिछले जन्मोंके कर्म आदिसे जिस संस्कारका गठन होता है, वह 'पूर्व संस्कार' कहलाता है। वर्त्तमान जन्मके कर्म और सङ्गसे जो संस्कार गठित होता है, उसे 'आधुनिक संस्कार' कहते हैं। जगत्के सम्पूर्ण प्राणी इन्हीं दो संस्कारोंके अधीन होकर कर्मचक्रमें भ्रमण कर रहे हैं। जीव जिस समय मायाके बन्धनमें नहीं होता है, उस समय उसका स्वभाव निर्मल कृष्णदास्य होता है। किन्तु मायाजालमें बँधे हुए जीवका वह शुद्ध-स्वरूप आच्छादित हो जाता है। इस समय जीव पूर्व और आधुनिक संस्कारोंको छोड़नेमें असमर्थ होता है। वर्त्तमान जन्ममें पूर्व संस्कार मनुष्यके द्वितीय संस्कारके रूपमें प्रकाशित होता है।

संस्कारासक्तिको दूर करनेका उपाय—साधुसङ्ग

इस अपरिहार्य संस्कारासक्तिको केवल साधुसङ्गसे ही शोधन किया जा सकता है। साधुसङ्ग ही इस महारोगकी एकमात्र औषधि

है। जब तक संस्कार-सङ्ग शुद्ध नहीं होता, भक्तिकी सिद्धि किसी प्रकार नहीं हो सकती है।

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२३/५५)

असत्पुरुषोंके साथ किया हुआ सङ्ग संसार-बन्धनका कारण होता है, वह सङ्ग चाहे ज्ञानवश, अज्ञानवश ही क्यों न हो। वही सङ्ग सत्पुरुषोंके साथ किये जानेपर असङ्गता प्रदान करता है। और भी कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥

व्रतानि यज्ञछन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१२/१-२)

संस्कार-सङ्ग अतिशय दुष्ट होता है। अष्टाङ्गयोग, सांख्यविद्या, वर्णाश्रमधर्म, वेदाध्ययन, तपस्या, संन्यास, इष्टापूर्त्त, दान, दक्षिणा, व्रतसमूह, यज्ञ, तीर्थाटन, यम, नियम—ये सब सत्कर्म दीर्घकाल तक अनुष्ठान करनेसे भी जीव सङ्गदोषशून्य नहीं हो पाता है, अतएव मुझे प्राप्त नहीं कर पाता है। परन्तु केवल सत्सङ्गसे यह दोष दूर होनेसे मैं भक्तके हृदयमें शीघ्र ही बँध जाता हूँ। शुद्ध भगवद्भक्तोंको आदर करके उनका सङ्ग करनेसे कर्म-सङ्ग और ज्ञान-सङ्ग रूप संस्कार-सङ्गदोष दूर होता है।

कुसंस्कारका फल

कुसंस्कारसे ही जीवोंमें राजसी और तामसी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। खान, पान, शयन और भिन्न-भिन्न क्रियाओंके सम्बन्धमें मनुष्यकी जो सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रवृत्तियाँ देखी

जाती हैं, संस्कार ही उनका मूल कारण है। कुसंस्कारके ही फलस्वरूप कर्मियों और ज्ञानियोंमें वैष्णवोंके प्रति अवज्ञाका भाव पैदा होता है। जब तक यह कुसंस्कार नष्ट नहीं हो जाता, तब तक दस नामापराध सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं होते। कर्माभिमान और ज्ञानाभिमानसे ही सन्तोंके चरणोंमें अपराध होता है। कुसंस्कारके कारण ही साधुनिन्दारूप नामापराध अभक्तजनोंके हृदयमें अपना घर बना लेता है। कुसंस्कारके कारण ही जीव कृष्णके चरणोंमें अनन्य भावसे शरण नहीं ले पाता, बल्कि वह अन्य-अन्य देवताओंको स्वतन्त्र ईश्वर मानकर कभी एक देवताकी; कभी अन्य देवताकी शरण लेता फिरता है। कुसंस्कारके कारण ही जीव गुरुकी अवज्ञा करता है, शास्त्रोंकी निन्दा करता है, नामके फलको अतिशयोक्ति मानता है, भगवन्नामको दूसरे-दूसरे शुभ कर्मोंके समान मानता है, नामके बलपर पाप करता है, देह तथा स्त्री-पुत्र-परिवार-धनको 'मैं' और 'मेरा' मानता है, अनधिकारी व्यक्तियोंको हरिनाम देता है इत्यादि; दस अपराधोंमें मत्त रहता है। ऐसी दशामें जीवका कल्याण कैसे हो सकता है? इसलिए कहते हैं—

असद्भिः सह सङ्गस्तु न कर्त्तव्यः कदाचन।
यस्मात् सर्वार्थहानिः स्यादधःपातश्च जायते॥

तात्पर्य यह कि असत्पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे अर्थ-धर्म-काम और मोक्ष एवं भक्ति आदि समस्त प्रकारके अर्थ नष्ट हो जाते हैं। सत्सङ्गमें ही कुसङ्गका दोष धोया जा सकता है तथा उसीसे समस्त प्रकारके अर्थोंकी प्राप्ति हो सकती है।

विशुद्ध वैष्णव-सङ्गका प्रभाव

कुछ दिनों तक निरन्तर शुद्ध वैष्णवोंका सङ्ग करनेसे भाग्यवान पुरुषोंकी संस्कार-आसक्ति नष्ट हो जाती है—ऐसा देखा

गया है। देवर्षि नारदके सङ्ग-प्रभावसे व्याध और रत्नाकर दस्यु (वाल्मीकि ऋषि) के कल्याण होनेकी बात कौन नहीं जानता? श्रीरामानुजाचार्यका यह उपदेश सब समय स्मरण रखनेके योग्य है कि—"यदि तुम अपनी हजार चेष्टाओंके द्वारा अपनेको सुधारनेमें असमर्थ हो रहे हो, तो वैष्णव साधुओंके पास बैठा करो, तुम्हारे सब पाप धुल जायेंगे, शीघ्र ही तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।" साधुसङ्गमें रहते-रहते कुछ ही दिनोंमें मन फिर जाता है, विषयासक्ति नष्ट हो जाती है, हृदयमें भक्तिका अङ्कुर पैदा हो जाता है। धीरे-धीरे वैष्णवोंके आचार-व्यवहारके प्रति रुचि पैदा हो जाती है। बहुतोंको स्त्रीसङ्गकी कामनाको, अर्थ-पिपासाको, भोग और मोक्षकी वासनाको, ज्ञान और कर्मके प्रति आदरकी भावनाको, मद्य-मांस और मैथुनकी स्पृहाको धूम्रपान और ताम्बूल (पान) सेवनकी आदतको साधुसङ्गके प्रभावसे छोड़कर सदाचार अवलम्बन करते हुए शुद्धाभक्तिका आचरण करते देखा गया है। वैष्णवोंके अव्यर्थकालत्व धर्म (निरन्तर कृष्ण सेवामें व्यस्ततारूप धर्म) से प्रभावित होकर बहुतोंको अलसता, परचर्चा, परनिन्दा आदि अनर्थोंसे मुक्त होते देखा गया है।

हमने ऐसा देखा है कि वैष्णवोंके संसर्गसे बहुतोंकी दुष्टता और बहुतोंकी प्रतिष्ठाकी कामना दूर हो गयी है। यदि वही सङ्ग कुछ श्रद्धाके साथ किया जाये तो आश्चर्यजनक फल होता है। लोगोंके स्वभाव सम्पूर्ण रूपसे परिवर्तित हो जाते हैं, संसार-आसक्ति दूर हो जाती है, युद्धमें जय-प्राप्तिकी लालसा दूर हो जाती है। कहाँ तक गिनाया जाये, सत्सङ्गके प्रभावसे राजा राज्यका लोभ छोड़कर, भोगी भोगकी वासना त्यागकर, धनी धनकी लोलुपता त्यागकर, कामी कामिनीका परित्यागकर, राजनीतिज्ञ राजनीतिको तिलाञ्जलि देकर, ग्राम्यकवि ग्राम्य-कवितादिका व्यसन छोड़कर, तार्किक जगत्‌को अपने तर्कसे पराजित करनेके स्वप्नसे उठकर, अपने भौतिक या आणविक विज्ञानके चमत्कारसे विश्वको विनाशकी छोर पर लानेवाला जड़ वैज्ञानिक अपनी वैज्ञानिक

गवेषणाको लात मारकर भगवान्‌का अनन्य भक्त हो जाता है। वैष्णवसङ्गके बिना संस्कार-आसक्तिको दूर करनेका दूसरा उपाय नहीं दीख पड़ता।

द्रव्यासक्ति सबके लिए त्याज्य है

द्रव्योंके प्रति होनेवाली समस्त प्रकारकी आसक्तियोंको दूर करनेका विशेष रूपसे प्रयत्न करना चाहिये। घर-बार, स्त्री-पुत्र, सुन्दर-सुन्दर आभूषण और वस्त्र, शरीर, भोजन, वृक्ष, पशु, पक्षी तथा अपने व्यवहारकी वस्तु आदिके प्रति गृही लोगोंकी निसर्गसे ही आसक्ति होती है। कुछ लोगोंको धूम्रपानमें, बहुतोंको मद्य-मांस आदि भोजनमें तथा दूसरोंको मादक द्रव्योंके सेवनमें इतनी अधिक आसक्ति होती है कि वे बुरी आदतें परमार्थ-साधनमें बड़ी बाधक सिद्ध होती हैं। कुछ लोग मद्य-मांस आदिके सामने भगवान्‌के प्रसादका भी निरादर करनेमें आगा-पीछा नहीं करते। बारम्बार धूम्रपानकी आदत भक्तिग्रन्थोंके पाठका, उनके श्रवण और कीर्त्तनका अधिक देर तक रसास्वादनमें बाधक होती है। ऐसी आदतसे लाचार व्यक्ति मन्दिरमें अधिक देर तक नहीं ठहर पाते, सत्सङ्गका सुख अधिक समय तक नहीं पा सकते। जब तक इन द्रव्यासक्तियोंको सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं किया जाता, तब तक भजन-सुखका अनुभव नहीं हो सकता है। सत्सङ्ग द्वारा ये सब आसक्तियाँ दूर हो जाती हैं; फिर भी साधनभक्तिकी क्रियाओंके द्वारा इन छोटी-मोटी आसक्तियोंको दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवद्भक्तिसम्बन्धी व्रतोंके पालनसे ये आसक्तियाँ दूर हो सकती हैं।

एकादशी आदि व्रतोंके पालनसे आसक्तिका दूर होना

एकादशी, जन्माष्टमी, गौरपूर्णिमा, रामनवमी, नृसिंहचतुर्दशी आदि व्रतोंका श्रद्धाके साथ नियमपूर्वक पालन करनेसे ये आसक्तियाँ सहज ही दूर हो जाती हैं। व्रत और नियमोंका एक

उद्देश्य आसक्तियोंको दूर करना भी है। व्रतके दिन सब प्रकारके भोगोंका वर्जन करके एकान्त मनसे भगवान्‌का भजन करना ही एकमात्र विधि है।

भोग-द्रव्य दो प्रकारके होते हैं—प्राण-रक्षक द्रव्य और इन्द्रिय-सुखकर द्रव्य। अन्न-जल आदि द्रव्य प्राण रक्षक हैं तथा मद्य, मांस, पान, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि इन्द्रिय-सुखकर द्रव्य हैं। व्रतके दिन इन्द्रिय सुखकर-द्रव्योंका सम्पूर्ण रूपसे त्याग करना आवश्यक है। अन्यथा व्रतपालन नहीं होगा। प्राण-रक्षक द्रव्योंका भी जितना तक हो सके संकोच करना चाहिये। शारीरिक अवस्थाके अनुसार कमसे कम जितना हो सके, अनुकल्प स्वीकार करनेकी व्यवस्था है। परन्तु इन्द्रिय-सुखकर द्रव्यों द्वारा अनुकल्पकी विधि नहीं है—उनका सम्पूर्ण रूपसे त्याग करना ही विधि है।

भोग प्रवृत्तिको क्रमशः संकोच करना व्रत पालनके उद्देश्योंमेंसे एक उद्देश्य है। यदि कोई ऐसा सोचे कि आज व्रतके दिन किसी प्रकारसे कष्ट सहकर अमुक वस्तुका व्यवहार नहीं करूँगा, कल खूब मन भरकर इसका भोग करूँगा, तो व्रतका उद्देश्य सफल नहीं होता। क्योंकि क्रमशः अभ्यासके द्वारा उन द्रव्योंका सङ्ग-त्याग करनेके लिए ही व्रत पालनकी व्यवस्था दी गयी है। साधारणतः व्रत तीन दिन व्यापी होता है। इस प्रकार तीन दिनों तक विषयोंका सङ्ग वर्जन करते-करते मास व्यापी चांद्रायण और चार मास व्यापी चातुर्मास्य आदि व्रतोंके द्वारा क्रमशः उन द्रव्योंको सदाके लिए छोड़ देना होगा। जिन लोगोंको व्रत पालनके समय 'क्षिप्रंभवति धर्मात्मा'—गीताकी यह वाणी याद नहीं रहती, उनका वैराग्य हाथीके स्नानकी तरह क्षणिक होता है।

योषित् और अभक्तोंका सङ्ग त्याज्य है

जो लोग शुद्धभक्ति लाभ करना चाहते हैं, उनके लिए अभक्तोंका सङ्ग तथा योषित् (स्त्री) का सङ्ग सर्वथा वर्जनीय है।

इसके लिए सत्सङ्गकी नितान्त आवश्यकता है। साथ ही द्रव्यासक्तिको दूर करनेके लिए वैष्णव व्रतोंका पालन करना भी जरूरी है। इनमें लापरवाही करना उचित नहीं। यदि अश्रद्धापूर्वक इनका पालन किया भी जाये तो फल नहीं होता, बल्कि उत्तरोत्तर अहङ्कार और कपटताकी वृद्धि होती है और जन्म-जन्मान्तर तक श्रवण-कीर्त्तन होनेपर भी उनके लिए हरिभक्ति दुर्लभ होती है।

सङ्ग और सङ्गत्याग किसे कहते हैं?

सङ्ग और सङ्गत्यागके सम्बन्धमें बहुत-से लोगोंको अनेक प्रकारके सन्देह उत्पन्न होते हैं। सन्देह होनेकी बात भी है; क्योंकि यदि असत् व्यक्तियों या वस्तुओंके निकट जानेको ही सङ्ग कहा जाये, तो ऐसे सङ्गको दूर करनेका उपाय नहीं है। जब तक शरीर है, तब तक जीवन निर्वाहोपयोगी द्रव्यों या वस्तुओंका सङ्ग कैसे त्यागा जा सकता है? गृहस्थ वैष्णव परिवारके लोगोंको कैसे छोड़ सकते हैं? घरपर रहा जाये या वनमें रहा जाये, शरीर निर्वाहके लिए असत् लोगोंके पास अवश्य ही जाना पड़ेगा। इसलिए सङ्ग और सङ्गत्यागकी सीमा निर्धारित करते हुए श्रीरूप गोस्वामीने उपदेशामृतमें लिखा है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥

हे साधकजन! शरीर-यात्रा निर्वाहके लिए सत् और असत् दोनों प्रकारके लोगोंके निकट अवश्य ही जाना पड़ेगा। इस विषयमें क्या गृही, क्या गृहत्यागी दोनों समान हैं। किन्तु एक उपाय है, निकटता भी होगी और सङ्ग करना भी नहीं होगा। परस्पर लेन-देन, परस्पर कथोपकथन और परस्पर भोजन आदि कार्य यदि प्रीतिपूर्वक किये जायें, तभी सङ्ग होता है। भूखेको भोजन और गरीबोंको जो सहायता दी जाती है तथा धार्मिक दातासे जो ग्रहण किया जाता है, वह केवल कर्त्तव्य समझकर

दिया लिया जाता है—इन कार्योंमें प्रीतिके अभावके कारण दाता और ग्रहीताका परस्पर सङ्ग नहीं होता। परन्तु ये सब कार्य प्रीतिपूर्वक होनेपर सङ्ग कहलाते हैं। अतः अवैष्णव अर्थात् बुरे लोगोंके साथ इन व्यवहारोंको प्रीतिपूर्वक करनेसे कुसङ्ग होता है और शुद्ध वैष्णवोंके साथ करनेसे सत्सङ्ग होता है।

मान लो, कोई असत् व्यक्ति तुम्हारे पास आया। अब तुम्हें चाहिये कि तुम उसके साथ जैसा आवश्यक हो कर्त्तव्य समझकर व्यवहार करो, किन्तु गूढ़ बातचीत न करो। गूढ़ बातचीतसे साधारणतः प्रीति हो जाया करती है और प्रीति होते ही सङ्ग-दोष उपस्थित हो जाता है। यदि तुम्हारे निकटके बन्धु-बाँधवोंमेंसे कोई आ जाये, तो तुम उससे आवश्यक बातें कर सकते हो। किन्तु उसके साथ हृदयकी बातें प्रीतिपूर्वक नहीं करना ही उचित है। यदि तुम्हारा वही बन्धु वैष्णव हुआ तो वे ही बातें प्रीतिपूर्वक करनी चाहिये। ऐसा होनेसे बन्धु-बान्धवोंसे कोई विरोधकी सम्भावना न होगी। व्यवहारिक बातोंसे सङ्ग नहीं होता। बाजारमें कुछ खरीदने या बेचनेके समय किसी नये खरीददार या विक्रेतासे जैसे व्यवहार होता है, ठीक उसी प्रकारका व्यवहार साधकको साधारण लोगोंके साथ निर्लिप्त होकर करना उचित है। परन्तु शुद्धभक्तोंके साथ वे ही व्यवहार प्रीतिपूर्वक होने उचित हैं।

भूखेको अथवा विद्या-व्यवसायियोंको भोजन कराते समय उनके साथ अतिथि जैसा व्यवहार करो, परन्तु विशेष प्रीति करनेकी आवश्यकता नहीं। यत्नमें कोई त्रुटि न हो, फिर भी उससे प्रीति न करो। केवल साधुसन्तोंको प्रीतिपूर्वक खिलाओ और उनके द्वारा दिये गये प्रसादको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करो। स्त्री-पुत्र, दास-दासी और आगन्तुक तथा आने-जानेवाले लोगोंके साथ उपरोक्त प्रकारसे व्यवहार करनेसे असत्सङ्गका दोष नहीं लगता, और सत्सङ्ग करना भी हो जाता है। इस प्रकार सोच-समझकर कुसङ्गका परित्याग नहीं करनेसे कृष्णभक्ति प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं है।

सङ्गत्यागके सम्बन्धमें श्रीरूपगोस्वामीके उपदेश

गृहत्यागी वैष्णवोंको उचित है कि सद्गृहस्थोंके घरमें मधुकरी द्वारा जो कुछ पावें, विचारकर ग्रहण करें। उन्हें सब समय स्थूल और मधुकरी भिक्षाका अन्तर स्मरण रखना चाहिये। गृहस्थ वैष्णव सच्चरित्र गृहस्थोंके घरपर ही प्रसाद और अन्न ग्रहण करेंगे। अभक्त और दुराचारी व्यक्तियोंके यहाँ सदा सावधानीसे प्रसाद-सेवा करेंगे। इस विषयमें अधिक उपदेशकी आवश्यकता नहीं है। सुकृतिसम्पन्न जीवको थोड़ी बातोंसे ही भक्तिके प्रति श्रद्धा हो जाती है। कृष्णकी कृपासे उनमें कुछ-कुछ बुद्धियोगका उदय हो गया होता है। उसी बुद्धियोगके द्वारा वे आचार्योंके उपदेशोंका मर्म सहज ही समझ लेते हैं। अतः ऐसे लोगोंके लिए संक्षेपमें कुछ उपदेशोंकी आवश्यकता है। परन्तु सुकृतिहीन लोगोंमें श्रद्धाका अभाव होता है। ऐसे लोगोंको अधिक उपदेश देनेपर भी कुछ फल नहीं होता। इसीलिए रूप गोस्वामीने थोड़े ही शब्दोंमें साधकोंके लिए उपदेश दिये हैं।

(६) साधुवृत्ति

साधु दो प्रकारके होते हैं—गृहस्थ और गृहत्यागी। अतः इनकी वृत्ति भी दो प्रकारकी होती है अर्थात् गृहस्थ वैष्णवोंकी वृत्ति और गृहत्यागी वैष्णवोंकी वृत्ति। हम अलग-अलग इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका विवेचन करेंगे। इन दोनोंके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी प्रवृत्तियाँ हैं जो दोनों प्रकारके साधुओंके लिए उपयोगी होती हैं, इनका वर्णन पृथक् रूपमें किया जायेगा।

'वृत्ति' शब्दके दो अर्थ हैं; पहला 'प्रवृत्ति' और दूसरा 'जीवन'। स्वभावको ही प्रवृत्ति कहा जाता है। स्वभावसे उत्पन्न प्रवृत्तिके अनुरूप ही जीवका धर्म होता है—

प्रायः स्वभाव-विहितो नृणां धर्मो युगे युगे।
वेददृग्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/११/३१)

वेद-दर्शी ऋषि-मुनियोंने युग-युगमें प्रायः मनुष्योंके स्वभावके अनुसार धर्मकी व्यवस्था की है। वही धर्म मनुष्योंके लिए इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी होता है। जो स्वाभाविक वृत्तिका आश्रय लेकर अपने स्वधर्मका पालन करता है, वह धीरे-धीरे इन स्वाभाविक कर्मोंसे ऊपर उठकर निर्गुण कृष्णभक्ति प्राप्त कर लेता है। अन्यथा वह स्वधर्मसे भ्रष्ट होकर क्रमोन्नति नहीं कर सकता। श्रीमद्भागवतकी यही शिक्षा है—

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्त्तमानः स्वकर्मकृत।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/११/३२)

यहाँ 'निर्गुणता' शब्दसे भक्तिको लक्ष्य किया गया है। क्योंकि श्रीमद्भागवतमें 'निर्गुण' शब्दका व्यवहार प्रायः भक्तिके लिए ही हुआ है—

तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२५/३३)

'निर्गुणं मदपाश्रयम्'—इस भगवद्वाक्यसे यह स्थिर होता है कि भक्ति द्वारा जो कुछ होता है, वह सब कुछ निर्गुण होता है।
यथा—

रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्त्व-संसेवया मुनिः।
सत्त्वञ्चाभिजयेत युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२५/३४-३५)

निर्गुण अवस्था प्राप्त होनेका उपाय

अतएव सात्त्विक द्रव्य, सात्त्विक काल, सात्त्विक क्रिया, सात्त्विक देश आदिमें भगवद्भक्तियुक्त करके जीवनयापन करनेसे मनुष्य निर्गुण हो सकता है। सात्त्विक प्रवृत्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और उस अधिकारमें स्थित होकर ही जीव क्रमशः निर्गुण हुआ करते हैं। श्रीमद्भागवतमें मनुष्यकी साधारण सात्त्विक प्रवृत्तिका उल्लेख किया गया है। ये सात्त्विक प्रवृत्तियाँ तीस प्रकारकी होती हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उलटा ही होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्म-चिन्तन अर्थात् आत्मा और अनात्माका विवेक, प्राणियोंमें अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन, समस्त लोगोंमें

भगवत्-सम्बन्धी भाव, सन्तोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला आदिका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण। ये तीस प्रकारके आचरण सभी मनुष्योंमें परम-धर्म है।

इन उपर्युक्त तीस प्रवृत्तियोंके तारतम्यके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार प्रकारके वर्ण और संन्यास, वानप्रस्थ, ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—चार प्रकारके आश्रम हुए हैं। जैसे श्रीमद्भागवत (११/१८/४२) में कहा गया है—

भिक्षोधर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम्॥

शम और अहिंसा—संन्यासीका धर्म है, तपस्या और भगवद्भाव वानप्रस्थका धर्म है, प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ-याग गृहस्थका धर्म है और गुरु-सेवा ब्रह्मचारियोंका धर्म है। वर्णोंके धर्म इस प्रकार हैं—अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना, दान देना—ये ब्राह्मणके कर्म हैं। प्रजापालनमें दण्ड और शुल्कादि द्वारा जीविका निर्वाह—ये क्षत्रियकी वृत्तियाँ हैं। कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि ये वैश्यकी वृत्तियाँ हैं और द्विजातियोंकी सेवा करना ही शूद्रोंकी वृत्ति है। वर्ण-सङ्करोंके लिए उसके कुलमें प्रचलित वृत्ति ही जीविका निर्वाहका उपाय है।

शरीर और मनको भजनके अनुकूल करनेका नियम

इन सब भागवतीय सिद्धान्तोंका तात्पर्य यह है कि भगवद्भजन ही इस संसारमें मनुष्योंका एकमात्र उद्देश्य है। परन्तु जब तक स्थूल और लिङ्ग-शरीरको भगवद्भजनके अनुकूल न कर लिया जाये, तब तक भजन सम्भव नहीं है। अतः मनुष्यका सबसे पहला कर्त्तव्य यह है कि वह अपने इन दोनों बाह्य शरीरोंको

भजनके अनुकूल बना ले। स्थूलशरीरकी रक्षाके लिए घर-द्वार, अन्न-जल और दूसरी कुछ वस्तुओंका संग्रह आवश्यक होता है। सूक्ष्मशरीरकी उन्नतिके लिए सद्विद्या और सद्वृत्तियोंकी आवश्यकता होती है। अतः एक ऐसा उपाय अवलम्बन करना पड़ेगा, जिससे इन दोनोंकी आवश्यकता भी पूरी हो जाये और हमारा भगवद्भजन भी होता रहे। इसलिए इन दोनों देहोंको सम्पूर्ण रूपसे भक्तिके अनुकूलकर उन्हें निर्गुण स्थितिमें पहुँचा देनेपर यह कार्य सरल हो सकता है। किन्तु प्रश्न है—इस स्थितिमें उन्हें लाया जाये तो कैसे? एक उपाय है—जीवोंमें उसके अनादि कर्मफलसे जो स्वभाव और वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका मिश्रभाव होता है। सबसे पहले इन तीनोंमेंसे सत्त्वको खूब बढ़ाओ और उससे रज और तमको दबाकर सत्त्वको ही प्रधान गुण बना लो। अब तुममें सत्त्व गुणकी प्रधानता हो जायेगी। फिर सत्त्वको सब तरहसे भक्तिके अधीन कर लेनेपर वही सत्त्व निर्गुणके रूपमें बदल जाता है। अर्थात् सत्त्व गुणमें भक्तियुक्त होनेपर वही निर्गुण कहलाता है। इस क्रमका अवलम्बन करनेसे देह और मन क्रमशः भगवद्भजनके अनुकूल हो जाते हैं।

वर्णाश्रमधर्मकी आवश्यकता

मनुष्य जब तक अपने स्वभावके अनुसार दोष और गुणमें स्थित होता है, उसका पहला कर्त्तव्य वर्णाश्रमधर्मका पालन करना होता है। वर्णाश्रमधर्मका मूल उद्देश्य यह है कि मनुष्य क्रमशः वर्णाश्रमधर्म पालन करते-करते निर्गुण अवस्था प्राप्तकर भगवद्भजनके लिए उपयुक्त बने। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने सनातन गोस्वामीको निम्नलिखित श्रीमद्भागवतका (११/५/२-३) श्लोक बतलाया था—

मुख बाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विपाद्रयः पृथक्॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

वर्ण और आश्रमका उद्देश्य क्रमोन्नतिके साथ भगवद्भजन तक पहुँचना है। यदि वर्णाश्रमधर्मका सुष्ठु रूपसे पालन करके भी भगवद्भजनमें रुचि नहीं हुई तो वर्णाश्रमधर्मसे च्युत हो जाना पड़ता है।

जब राय रामानन्दने साध्य और साधनके विषयमें महाप्रभुजीको यह श्लोक सुनाया—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥
(विष्णुपुराण ३/८/९)

तब महाप्रभुने इसे बाह्य विधि बतलाकर इससे भी उच्च सिद्धान्त कहनेके लिए आदेश दिया। महाप्रभुका तात्पर्य यह है कि स्थूल और लिङ्ग शरीरोंको नियमित करनेके लिए ही वर्णाश्रमधर्मकी आवश्यकता है। यदि कोई मनुष्य वर्णाश्रमधर्मकी विधियोंसे ही सन्तुष्ट रहकर भगवद्भजन न करे तो उसका वर्णाश्रमधर्मका पालन करना व्यर्थ ही हुआ। अतः बद्धजीवोंके लिए वर्णाश्रमकी विधियाँ कुछ हद तक भजनके अनुकूल होनेपर भी बाह्य साधन ही है, चरम और सर्वश्रेष्ठ साधन नहीं है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥
(श्रीमद्भा॰ १/२/८)

देहत्याग होनेतक वर्णाश्रमधर्म पालनीय है

इसके द्वारा कोई ऐसा न समझ ले कि श्रीमन् महाप्रभुने वर्णाश्रमधर्मका त्याग करनेका उपदेश दिया है। यदि ऐसा ही होता तो वे स्वयं गृहस्थावस्था तक गार्हस्थ्यधर्मका और संन्यास

अवस्थामें संन्यासधर्मका सम्पूर्ण रूपसे पालन करनेकी लीला द्वारा जीवोंको ऐसी शिक्षा न दिये होते। जब तक शरीर है, तब तक वर्णाश्रमधर्म ही अवश्य पालनीय है। परन्तु उसे भक्तिके सम्पूर्ण अधीन रखकर पालन करो। वर्णाश्रमधर्म परोधर्मकी भित्तिस्वरूप है। परोधर्मकी परिपक्वता होनेपर उपेय प्राप्तिके साथ-साथ इन उपायों (वर्णाश्रमकी विधियों) के प्रति अनादरका भाव पैदा हो जाता है और देहत्यागके साथ बची-खूची विधियाँ भी सम्पूर्ण रूपसे छूट जाती हैं।

रामानन्द राय द्वारा कहे गये श्लोकके दूसरे चरणमें—"विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्" का तात्पर्य यह है कि संसारी जीवोंके लिए वर्णाश्रमधर्म ही एकमात्र ऐसी जीवन-निर्वाहोपयोगी व्यवस्था है, जो उनके भगवद्भजनके लिए अनुकूल है। इसके अतिरिक्त ऐसी कोई भी दूसरी व्यवस्था नहीं है जो हरिभजनके अनुकूल भी हो और जिससे जीविका निर्वाह भी सरलतासे हो सके। इसीलिए इसे भक्तजीवनका एकमात्र पथ कहा जा सकता है।

वर्ण-विभाग जन्मके अनुसार नहीं, स्वभावके अनुसार होता है

मनुष्य साधारणतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सङ्कर और अन्त्यज—ये कई भागोंमें विभक्त हैं। किसी-किसी देशमें वर्णाश्रमधर्म स्पष्ट रूपसे नहीं होनेपर भी अङ्कुरित रूपमें अवश्य है। जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसकी वैसी ही वृत्ति होती है और वैसा ही जीविकोपार्जनका उपाय भी होता है। दूसरोंकी वृत्ति और जीविकोपायका अवलम्बन करनेसे अहित होता है। यहाँ तक कि हरिभजनके मार्गमें भी बड़ी-बड़ी अड़चनें आ खड़ी होती हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि किसी व्यक्तिका वर्ण कैसे निरूपण किया जाये? क्योंकि जब तक उसका वर्ण ठीक नहीं होता तब तक उसका धर्म तथा उसके जीविकोपार्जनकी पद्धति आदि कैसे ठीक हो सकती है? आजकल साधारणतः जन्मके अनुसार वर्ण निरूपित होता है। परन्तु यह शास्त्रीय और युक्तिसङ्गत पद्धति

नहीं है। बल्कि व्यक्तिके स्वभावके अनुसार ही वर्ण निश्चित होना उचित है। श्रीमद्भागवतमें इसी पद्धतिका स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादन किया गया है—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/११/३५)

अर्थात् जिस पुरुषके वर्णको बतलानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझना चाहिये।

श्रीधरस्वामी उक्त श्लोककी टीकामें लिखते हैं—"शमादिभिरेव ब्राह्मणादि-व्यवहारो मुख्यः, न जातिमात्रादित्याह यस्येति। यद्यदि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्यत तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षण-निमित्तेनैव वर्णेन विनिर्दिशेत्, न तु जाति-निमित्तेनेत्यर्थः।" इस प्रकार सनातन वर्णाश्रमधर्म सदा पालनीय है। वह साधारणतः भक्तिके लिए अनुकूल और उपयोगी होता है। चारों वर्ण और सङ्कर वर्ण—सभी अपने-अपने सात्त्विक स्वभावको उन्नत करनेका प्रयत्न करेंगे। पूर्व-सुकृतिसे अन्त्यजवर्णवाले मनुष्यका सौभाग्य उदित होनेपर वह शूद्रवर्णके उपयोगी आचरणोंका पालन करता हुआ अपने सत्त्वगुणको उन्नत करेगा। सबको चाहिये कि वे सत्सङ्ग द्वारा जीवनमें भक्तिकी प्रधानता देकर उन्नत सत्त्वगुणको निर्गुण अवस्थामें पलट दें। सनातनधर्मका यही क्रमविकास है। भक्ति रहनेपर सभी वर्णोंके लोग ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ हैं और भक्तिके अभावमें ब्राह्मण जीवन भी व्यर्थ है।

हमें अपने पूर्व-महाजनोंके आचरणोंको ग्रहण करना चाहिये। परन्तु एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है, वह यह कि आज तक तो बहुत-से ऋषि-महर्षि आदि आचार्य हुए हैं। फिर किनका आचरण ग्रहण किया जाये? किसी महात्माका कथन है कि महाजनोंके पथपर पूर्वापर (आगे पीछे) का विचारकर चलना

चाहिये। तात्पर्य यह है कि पूर्वके महाजनों और पिछले महाजनोंका विचारकर पिछले महाजनोंके आचारोंका अवलम्बन करना उचित है। जैसे श्रीचैतन्य महाप्रभुके आविर्भावसे पहले अनेक ऋषि-महर्षि आदि महाजन हुए हैं, जिनके आचार हमारे लिए पूर्व महाजनोंके आचार हैं। श्रीमन् महाप्रभुके आविर्भावसे लेकर अब तक के महात्माओंके आचार ही पिछले महाजनोंके आचार हैं। अतः पिछले आचार ही श्रेष्ठ और पालनीय हैं। श्रीमन् महाप्रभु और उनके अनुगत भक्तोंके आचार—जिनका उन्होंने जीव-शिक्षाके लिए आचरण किया है—जीवोंके लिए सम्पूर्ण रूपसे पालनीय हैं।

गृहस्थोंके व्यवहार और उनकी वृत्तियाँ

सद्वृत्ति क्या है?—यह अच्छी तरह समझनेके लिए श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु और उनके भक्तोंके आचरण हमारे आदर्श हैं। अतः उनके आचारोंको संक्षेपमें नीचे लिखा जा रहा है—

(क) विवाह और कुटुम्ब-भरणके सम्बन्धमें

गृहस्थको गृहिणीके साथ भजनके अनुकूल संसार धर्मका पालन करते हुए भगवद्भजन करना चाहिये। संसार धर्मका पालन करनेसे जो पुत्र और कन्या पैदा हों, उन सबको कृष्णका दास-दासी समझकर पालन-पोषण करना चाहिये। परन्तु कुटुम्ब-भरणके लिए तो अर्थकी आवश्यकता होती है; इसके लिए धर्म या न्याय-सङ्गत उपायोंसे ही यथायोग्य अर्थसंग्रह करना चाहिये।

(ख) विद्या-शिक्षाके सम्बन्धमें

उपयुक्त उम्रमें विद्या अध्ययन करना आवश्यक है; परन्तु बहिर्मुख शास्त्रों अथवा ग्रन्थोंका अध्ययन नहीं करना चाहिये। विद्याका उद्देश्य कृष्णभजनमें प्रवेश कराना है, न कि धन और प्रतिष्ठा अर्जन करना।

(ग) अतिथिसेवाके सम्बन्धमें

अतिथिसेवा गृहस्थका प्रधान कर्त्तव्य है। निष्कपट चित्तसे यथाशक्ति अतिथियोंका सत्कार करना चाहिये। अतिथि दो प्रकारके होते हैं। साधारण अतिथि और भक्त अतिथि। इन दोनोंका भलीभाँति पार्थक्य जानकर उनके उपयुक्त साधारण अतिथियोंका सत्कार और भक्तोंकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनी चाहिये।

(घ) सद्‌गुणोंके सम्बन्धमें

गृहस्थ व्यक्ति सबके साथ सरल व्यवहार करेंगे। किसीके साथ कपट व्यवहार न करेंगे। इस प्रकार सबके साथ व्यवहार करते हुए सदा भगवान्‌का भजन करेंगे।

गुरुजनोंकी सेवा करना उनका प्रधान कर्त्तव्य है। इससे भगवान् सन्तुष्ट रहते हैं। उन्हें वैराग्य धर्मकी शिक्षा लेनी चाहिये। परन्तु साधुओंका बाना पहनकर उन्हें कपट वैराग्यका आचरण नहीं करना चाहिये। वैराग्य सच्चा होना चाहिये, दिखावटी नहीं। अन्तरमें भक्तिके प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए जीवनधारणके लिए उपयोगी यथायोग्य विषयोंको अनासक्त होकर भोग करो। अन्तरमें भक्तिका निर्मल स्रोत बहानेकी चेष्टा करो; ऊपरसे लौकिक व्यवहारोंका आचरण करते रहो। ऐसा होनेसे कुछ ही दिनोंमें भगवान्‌की कृपा पायी जा सकती है।

परोपकारी होना गृहस्थोंके लिए एक आवश्यक गुण है। संसारमें समस्त प्रकारके उपकारोंमें जीवोंको कृष्णभक्तिमें प्रवृत्त कराना ही सर्वश्रेष्ठ उपकार है। गृहस्थ व्यक्ति स्वयं कृष्णभक्तिका आचरण करेंगे और दूसरोंको भी इस मार्गपर लानेका प्रयत्न करेंगे। इस मार्गपर लानेके लिए प्रधान उपाय है—उन्हें निरन्तर कृष्णनामका कीर्त्तन करनेके लिए उपदेश देना। कुसङ्गसे सर्वदा बचो। शुद्धभक्तोंके सङ्गमें भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीलाका

श्रवण और कीर्त्तन करो। परन्तु अभक्तोंके सङ्गमें कीर्त्तन आदि द्वारा भक्तिकी हानि होती है। संसार-बन्धन और भी दृढ़ होता जाता है।

(ङ) उन्हें भगवान्‌की इच्छापर सम्पूर्ण निर्भर करना चाहिये।

(च) विशेष सावधानीके साथ अवैष्णवों, स्त्रियों और स्त्रैण व्यक्तियोंका सङ्ग त्याग करना चाहिये।

(छ) सद्‌गृहस्थ प्रतिदिन एक लाख 'हरिनाम' करेंगे। ऐसे सद्‌गृहस्थोंके घरपर ही शुद्ध वैष्णवजन प्रसाद सेवा करेंगे।

(ज) शुद्ध वैष्णवों और स्मार्त्तका भेद जानकर शुद्ध वैष्णवोंकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनी चाहिये। दोनोंके ऊपरी कर्मोंमें भेद नहीं होता, पर भेद होता है—दोनोंकी आन्तरिक निष्ठाओंमें। अतः दोनोंको एक श्रेणीमें माननेसे अधोगति होती है। इसलिए इसे ठीक-ठीक समझकर उनके प्रति यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये।

गृहस्थोंका प्रकृत धर्म

गृहस्थोंका प्रकृत धर्म बतलाते हुए श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

प्रभु कहे कृष्णसेवा वैष्णव-सेवन।
निरन्तर कर कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन॥
(चै॰ च॰ म॰ १५/१०४)

अर्थात् धर्म जीवनके साथ न्यायसङ्गत साधनोंसे आवश्यक अर्थसंग्रह द्वारा देह-यात्राका निर्वाह करना तथा कुटुम्बियोंकी सहायतासे कृष्णसेवा, वैष्णवसेवा और निरन्तर नामसङ्कीर्त्तन करना ही गृहस्थोंका यथार्थ धर्म है। वैष्णवसेवाके सम्बन्धमें जानने योग्य बात यह है कि निष्कपट भक्त तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। इन तीनों प्रकारके वैष्णवोंका सेवन ही वैष्णवसेवा है। वैष्णवोंको निमन्त्रणकर एकत्र करना उचित नहीं। जिस समय जो वैष्णव आ जावे, उनकी यथायोग्य श्रद्धापूर्वक

सेवा करनी चाहिये। बहुतसे वैष्णवोंको एकत्र करनेसे अपराध होनेकी ही सम्भावना अधिक रहती है—

बहु संन्यासी यदि आइसे एक ठांइ।
सम्मान करिते नारि, अपराध पाइ॥
(चै॰ च॰ म॰ १५/१९७)

दीन–दुःखी व्यक्तियोंके प्रति दया करना गृहस्थ वैष्णवका कर्त्तव्य है। वे लोग किसी साधारण धर्मके उद्देश्यसे या क्रोधके आवेशमें आत्महत्याका प्रयास न करेंगे। क्योंकि आत्महत्या तामस–धर्म है और मनुष्यमें जब तक तामस धर्मकी प्रबलता रहती है तब तक वह भगवत्कृपाका अधिकारी नहीं होता।

कृष्णभजनमें भजनके तारतम्यके अनुसार छोटे–बड़ेका विचार होता है, वर्ण और जाति आदिके अनुसार नहीं। संसार–धर्ममें वर्णके अनुसार क्रियाओंके अधिकारमें भेद है। परन्तु भगवद्भजनके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई भेदभाव नहीं है।

नीच–जाति नहे कृष्ण भजनेर अयोग्य।
सत्कुल–विप्र नहे भजनेर योग्य॥

येइ भजे, सेइ बड़, अभक्त—हीन छार।
कृष्ण भजने नाहि जाति कुलादि विचार॥
(चै॰ च॰ अ॰ ४/६६—६७)

गृहस्थ वैष्णवको ग्रासाच्छादनके लिए जो कुछ अनायास रूपमें मिले, उससे सन्तुष्ट रहना चाहिये। यथा—

सबा हैते भाग्यवन्त—श्रीशाक, व्यंजन।
पुनः पुनः जाहा प्रभु करेन ग्रहण॥
(चै॰ भा॰ अ॰ ४/२९३)

गृहस्थ वैष्णवजन कृष्णको सर्वेश्वर जानकर अनन्य भजनमें तत्पर रहेंगे। साथ ही उन्हें स्मार्त्त आदि सम्प्रदायोंमें पूजे जानेवाले देवताओंकी अवज्ञा भी नहीं करनी चाहिये।

स्वार्थ त्याग करके भी परोपकार करना गृहस्थका धर्म है।

गृहस्थ वैष्णवको तुलसीकी श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिये। तुलसीको अपने निकट रखकर हरिनाम करना चाहिये।

भक्तियुक्त गृहस्थ धन्य हैं; दूसरी ओर भक्तिहीन गृहस्थ सोचनीय हैं। गृहस्थजन जब जो कुछ सांसारिक व्यवहार करेंगे, मुखसे कृष्णनाम उच्चारण करते हुए करेंगे। इस विषयमें काली दास नामक महाजनका चरित्र आदर्श है—

महाभागवत तेंहो सरल उदार।
कृष्णनाम-सङ्केते चालाय व्यवहार॥

कौतुकेते तेंहो यदि पाशक खेलाय।
'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' करि पाशक चालाय॥
(चै॰ च॰ अ॰ १६/६७)

किसी वैष्णवको अन्याय रूपसे उपार्जन या अपव्यय नहीं करना चाहिये। कर्मचारियोंको घूस नहीं लेना चाहिये।

गृहस्थजनोंको भक्तिमान और सच्चरित्र गुरु करना चाहिये।

उन्हें सर्वदा सावधान होकर कार्य करना चाहिये, जिससे कोई सेवापराध न हो जाये। यदि भ्रमवशतः किसी वैष्णवके प्रति अपराध हो भी जाये तो उन्हींके चरणोंमें गिरकर तुरन्त क्षमा माँग लेनी चाहिये अन्यथा उस अपराधका भयङ्कर फल होता है।

गृहस्थोंके लिए भक्तजनोंकी सेवा करना प्रधान कर्म है। भक्तोंकी सेवामें भक्तिकी वृद्धि होती है—

भक्त पदधूलि आर भक्तपद-जल।
भक्त-भुक्त-शेष एइ तीन साधनेर बल॥
(चै॰ च॰ अ॰ १६/६०)

भक्तोंकी चरणधूलि, उनका चरणामृत (चरणजल) तथा उनका उच्छिष्ट प्रसाद—ये तीनों चीजें भक्तिके साधनमें साधकको अत्यधिक बल प्रदान करती हैं।

सम्पूर्ण रूपसे भक्त होनेके पहले गृहस्थका कर्त्तव्य

गृहस्थभक्त जितने दिनों तक पूर्ण भक्त नहीं हो पाते एवं जब तक उनकी भोगकी कामनाएँ पूर्ण रूपसे नष्ट नहीं हो जातीं, तब तक उन्हें किस प्रकारसे चलना चाहिये, इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने कहा है–

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥

ततो भजेत् मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२०/२७–२८)

गृहस्थ–व्यक्ति श्रद्धालु होनेपर कृष्णदीक्षा ग्रहण करेंगे, क्योंकि श्रद्धालु व्यक्ति ही भक्त होनेके अधिकारी हैं। उनमें निम्नलिखित २६ गुण अवश्य ही होने चाहिये—

कृपालु अकृतद्रोह सत्यसार सम।
निर्दोष वदान्य मृदु शुचि अकिञ्चन॥

सर्वोपकारक शान्त कृष्णैक–शरण।
अकाम निरीह स्थिर विजित–षड्गुण॥

मितभुक् अप्रमत्त मानद अमानी।
गम्भीर करुण मैत्र कवि दक्ष मौनी॥
(चै॰ च॰ म॰ २२/७५–७७)

गृहस्थ वैष्णवोंको साधुसङ्ग अवश्य करना चाहिये। क्योंकि कृष्णभक्ति साधुसङ्गसे प्रकाशित और पुष्ट होती है।

यों तो साधन भक्तिके ६४ अङ्ग हैं और इनका यथाशक्ति पालन करना चाहिये, परन्तु नवधा और पञ्चधा भक्तिका विशेष यत्नके साथ पालन करना चाहिये। यथा—

साधुसङ्ग, नामकीर्तन, भागवतश्रवण।
मथुरावास, श्रीमूर्तिर श्रद्धाय सेवन॥

सकलसाधन-श्रेष्ठ एइ पञ्च अङ्ग।
कृष्णप्रेम जन्माय एइ पाँचेर अल्प सङ्ग॥

(चै॰ च॰ म॰ २२/१२५-१२६)

क्रमशः वैध अवस्थाको सङ्कुचित करते हुए रागानुगाभक्तिमें प्रवेश करना चाहिये। भगवत्-राग पैदा होनेपर अनेक विधियाँ स्वयं दूर हो जाती हैं तथा ऐसी दशामें प्रायश्चित आदिकी आवश्यकता नहीं होती। यों तो रागमार्गमें प्रविष्ट व्यक्तियोंका पापकर्मोंकी ओर कभी मन ही नहीं जाता, तथापि अज्ञानतावश यदि कभी कोई पाप कर्म हठात् हो भी जाता है तो भगवान् कृपाकर उसे शुद्ध कर देते हैं।

गृहस्थ व्यक्ति भक्तिसम्बन्ध ज्ञान और भक्तिजनित वैराग्यके अतिरिक्त अन्य ज्ञान और वैराग्यके लिए प्रयत्न नहीं करेंगे।

ज्ञान-वैराग्यादि—भक्तिर कभु नहे 'अङ्ग'।
अहिंसा-यम-नियमादि बुले कृष्णभक्त-सङ्ग॥

ज्ञान एवं वैराग्य भक्तिके अङ्ग नहीं हैं। अहिंसा, यम, नियम आदि कृष्णभक्तोंमें आनुसङ्गिक रूपमें विद्यमान रहते हैं।

गृहस्थ वैष्णव दस प्रकारके नामापराधोंको परित्यागकर श्रद्धापूर्वक निरन्तर कृष्णनाम करेंगे। इससे कृष्णप्रेम लाभ होता है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
'कृष्णप्रेम', 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति॥

तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम–सङ्कीर्तन।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥
(चै० च० अ० ४/७०–७१)

गृहस्थ वैष्णव केवल धर्माचारके ऊपर निर्भर न रहकर शुद्धभक्तिका पालन करेंगे। केवल दुग्ध पानकर पयहारी और फल खाकर फलाहारी कहलानेसे ही भक्ति प्राप्त नहीं होती, बल्कि शुद्धभक्तिका आदरपूर्वक पालन करनेसे भक्तिदेवीका प्राकट्य होता है।

उन्हें अपनेको ब्रह्म अथवा भगवान् अभिमान नहीं करना चाहिये, ऐसी भावना अपराधमयी होती है। जीव भगवान्का दास है, स्वयंभगवान् नहीं है।

गृहस्थ वैष्णव महाप्रभु और महाप्रभुके गृहस्थ भक्तोंका चरित्र अनुसरण करेंगे। कृष्णप्रीतिके उद्देश्यसे जो कुछ भी किया जाये, उत्तम है तथा कृष्णसुखके अतिरिक्त समस्त प्रकारकी कामनाओंकी पूर्तिके लिए जो कुछ भी किया जाये, उससे संसार बन्धन दृढ़ होता है। भक्तोंके लिए गृहस्थ रहना अथवा गृहत्याग करना एक ही बात है। राय रामानन्द, पुण्डरीक विद्यानिधि, श्रीवास पण्डित, शिवानन्दसेन, सत्यराज खान और अद्वैत प्रभु—सबने आदर्श गृहस्थ जीवनमें शुद्धभक्ति पालनका मार्ग दिखलाया है। जीविका निर्वाहका भेद ही गृहस्थ और गृहत्यागीका भेद है। यदि गृहस्थाश्रम भजनके अनुकूल है, तब गृहत्याग करना उचित नहीं है। वैराग्यका अवलम्बन करते हुए गृहस्थ रहना ही कर्त्तव्य है। हाँ, यदि घर भगवद्भजनके प्रतिकूल हो, तब गृहत्यागका अधिकार होता है। इस समय जो गृह आदिके प्रति वैराग्य उदित होता है, वही भक्तिके अनुकूल सच्चा वैराग्य है। इसी विचारका अवलम्बनकर श्रीवास पण्डितने घर नहीं छोड़ा, इसी विचारसे ही स्वरूप दामोदरने संन्यास ग्रहण किया। समस्त भक्तोंके जीवनमें यही विचार देखा जाता है। इस विचारके द्वारा जिन लोगोंने गृहत्याग किया है, उनकी अत्यन्त शीघ्र ही साधन राज्यमें उन्नति हुई है।

गृहत्यागी वैष्णवोंका आचरण कैसा होना चाहिये इसके सम्बन्धमें श्रीमन् महाप्रभुने रघुनाथदासको जो उपदेश दिये हैं, वे प्रत्येक गृहत्यागी वैष्णवके लिए पालनीय हैं—

वैरागी करिबे सदा नाम-सङ्कीर्तन।
मागिया खाइया करे जीवन रक्षण॥

वैरागी हइया जेवा करे परोपेक्षा।
कार्य सिद्धि नहे, कृष्ण करेन उपेक्षा॥

वैरागी हइया करे जिह्वार लालस।
परमार्थ जाय, आर हय रसेर वश॥

★ ★ ★

शाक-पत्र-फल-मूले उदर भरण॥

जिह्वार लालसे येई इति-उति धाय।
शिश्नोदर-परायण कृष्ण नाहि पाय॥

ग्राम्य कथा ना शुनिबे, ग्राम्य वार्त्ता ना कहिबे।
भाल ना खाईबे, आर भाल ना परिबे॥

अमानी मानद हइया कृष्णनाम सदा लबे।
व्रजे राधाकृष्ण-सेवा मानसे करिबे॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

गृहत्यागी साधुको निरन्तर कृष्णनाम करना चाहिये। भिक्षा-वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करना चाहिये। उन्हें स्वावलम्बी होना आवश्यक है। बिना स्वावलम्बी हुए कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। परावलम्बियोंकी कृष्ण भी उपेक्षा करते हैं। जिह्वा-लिप्सासे बचना चाहिये, क्योंकि इससे साधक स्वादके वश हो जाता है, जिससे भजन नष्ट हो जाता है।

अस्तु, शाक-पात और फल-मूल द्वारा शरीरकी रक्षा करते हुए निरन्तर कृष्णनाम करना चाहिये। जो लोग ऐसा करनेके

बदले जिह्वाके स्वादके लिए इधर-उधर दौड़ते-फिरते हैं, वे शिश्नोदरपरायण व्यक्ति कृष्णको कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। गृहत्यागी वैष्णवको न तो ग्राम्य-कथा सुननी चाहिये और न स्वयं कहनी ही चाहिये। उन्हें न तो अच्छा खाना चाहिये और न अच्छा पहनना ही चाहिये। उन्हें स्वयं अमानी होकर दूसरोंको मान देना और सब समय प्रेमपूर्वक भगवान्‌का नाम लेना चाहिये।

गृहत्यागी-संन्यासीको अपने ग्राममें घरवालोंके साथ कभी भी वास नहीं करना चाहिये। विषयोंमें आसक्त पुरुषों और स्त्रियोंका दर्शन करना सर्वथा निषेध है। स्त्रियोंसे भूलकर भी बातचीत अथवा किसी प्रकारका व्यवहार नहीं करना चाहिये। इस विषयमें श्रीमन् महाप्रभुजीका उपदेश है—

प्रभु कहे,—वैरागी करे प्रकृति-संभाषण।
देखिते ना पारों आमि ताहार वदन॥

दुर्वार इन्द्रिय करे विषय ग्रहण।
दारु-प्रकृति हरे मुनिरपि मन॥

क्षुद्र जीव सब मर्कट-वैराग्य करिया।
इन्द्रिय चराञा बुले 'प्रकृति' संभाषिया॥

प्रभु कहे—मोर वश नहे मोर मन।
प्रकृति-संभाषी वैरागी ना करे स्पर्शन॥

★ ★ ★

"आमि त संन्यासी, आपने विरक्त करि मानि।
दर्शन दूरे, प्रकृतिर नाम यदि शुनि॥

तबहि विकार पाय मोर तनु-मन।
प्रकृति-दर्शने स्थिर हय कोन जन?"

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

तात्पर्य यह कि विरक्त साधुओंको स्त्रियोंके साथ वार्त्तालाप आदि नहीं करना चाहिये। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं। वे किसी-न-किसी बहाने विषयोंका सब समय भोग करना चाहती हैं। जब काठ और पत्थर आदिकी बनी हुई स्त्रीका रूप देखकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंका चित्त चञ्चल हो उठता है, फिर सचमुचमें रमणी-संसर्गका क्या प्रभाव होता है—यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। साधन, भजनरहित अत्यन्त दीन-हीन जीव साधुका बाना पहनकर मर्कट वैराग्य धारणकर रमणियोंके साथ बातचीत करनेके बहाने अपनी इन्द्रियोंको तुष्ट करनेमें व्यस्त रहते हैं। भला स्त्री-दर्शनसे किसका चित्त स्थिर रह सकता है?

संन्यासीको विषयी लोगोंके घरपर स्थूल भिक्षा नहीं करनी चाहिये। इससे अन्तःकरण अपवित्र हो जाता है। अशुद्ध अन्तःकरणसे श्रीकृष्णका कदापि भजन नहीं हो सकता है।

त्यागी-वैष्णवको मठ, अखाड़ा आदिका निर्माण करना उचित नहीं है। क्योंकि इससे पुनः गृह-व्यापार होने लगता है। उन्हें साधारण रूपसे गोवर्धन शिलादिका पूजन करते-करते कृष्ण चिन्तनमें निमग्न रहना ही वाञ्छनीय है।

एक कुञ्जा जल आर तुलसीमञ्जरी।
सात्विक-सेवा एइ—शुद्ध भावे करि॥

दुइदिके दूइपत्र मध्ये कोमल मञ्जरी।
एइमत अष्टमञ्जरी दिवे श्रद्धा करि॥

(चै. च. अ॰ ६/२९६-२९७)

भक्तजन किसी विशेष अवस्थामें वैध-संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। सबको ऐसा करना ही पड़ेगा ऐसा कोई नियम नहीं है। ब्राह्मण कुलमें पैदा हुए वैष्णव घर-बार छोड़ते समय अपने आश्रमोचित वैध-संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु संन्यासके उस अंशको ग्रहण नहीं करेंगे, जो भक्तिके प्रतिकूल है।

वैष्णव-संन्यासी मायावादी वेश-भूषा धारण नहीं करेंगे। सर्वदा असत्सङ्गसे बचेंगे। तेल आदि विलासके प्रसाधनोंका व्यवहार न करेंगे। उन्हें स्त्रियोंके नाच-गानसे दूर रहना चाहिये।

स्त्री-सङ्गीत और महाप्रभुजीका आदर्श

बात पुरीकी है। एक दिन महाप्रभुजी यमेश्वर टोटाको जा रहे थे। रास्तेके बगलमें कुछ ही दूरपर एक देशवासी कन्या महाकवि जयदेवके अमर काव्य गीतगोविन्दका एक ललित पद बड़े ही मधुर कण्ठसे गाती हुई जा रही थी। पदमें श्रीकृष्णके रूपका बड़ा ही सरस और मधुर वर्णन था, तिसपर भी कोकिल-कूजित उसका कण्ठ स्वर। महाप्रभु उस सङ्गीतको सुनकर प्रेममें विह्वल हो गये। स्त्री या पुरुष कौन गा रहा है—इसे वे एकदम भूल गये। वे अप्राकृत भावावेशमें मत्त होकर अपने कानोंमें सुधा बरसानेवालेका आलिङ्गन करनेके लिए बड़े वेगसे भागे। उन्हें पथ-बेपथका बिलकुल ही ध्यान न रहा। वे एक साँसमें अपने लक्ष्यकी ओर सीधे दौड़े जा रहे थे। काँटीदार झाड़ियोंसे बींधकर सारा शरीर लहू-लुहान हो गया, पैरोंमें काँटे चुभते जा रहे थे, फिर भी वे भागे जा रहे थे। साथमें गोविन्द थे। प्रभुको दौड़ते देखकर वे भी उनके पीछे-पीछे भागे। बड़े कष्टसे देवदासीके पास पहुँचनेके पहले ही उन्होंने महाप्रभुको पकड़ लिया और कहा—"प्रभो! स्त्री गा रही है। आप कहाँ जा रहे हैं?" 'स्त्री' शब्द सुनते ही महाप्रभुको बाह्य-स्मृति हो आयी। वे वहींसे लौट पड़े और बड़े ही करुण स्वरमें अधीरताके साथ कहने लगे—"गोविन्द! तुमने आज मेरी बहुत रक्षा की। यदि भूलसे भी स्त्रीका स्पर्श हो गया होता, तो मेरे प्राण अवश्य ही इस शरीरमें नहीं रहते। मैं इस उपकारके लिए तुम्हारा चिर ऋणी रहूँगा।"

तात्पर्य यह कि विरक्त-वैष्णवको स्त्री-संसर्गसे सर्वथा दूर रहना चाहिये।

गृहत्यागी वैष्णवका शयन और आहार

अन्त्यलीलाके दिनोंमें श्रीमहाप्रभुजी दिन-रात माथुर-विरहमें कातर वियोगिनी श्रीमतीराधिकाजीके भावमें विभोर रहा करते थे। उनका वैराग्य अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। खाने-पीनेकी बिलकुल ही सुध नहीं रहती। नेत्रोंसे दिन-रात आसुओंकी धाराएँ बहती रहतीं। फूलसे भी कोमल शरीर सूखकर काँटा जैसा हो गया था। उनके उस अतिशय क्षीण शरीरको रूखे-सूखे केलेके पत्तोंपर पड़ा देखकर भक्तोंको अपार दुःख होता। किन्तु उनसे कुछ कहे तो कौन कहे?

जगदानन्दजी महाप्रभुके प्रेमी भक्तोंमेंसे थे। उन्हें महाप्रभुका ऐसा कठोर वैराग्य देखकर बड़ा दुःख होता। अन्ततः एक दिन वे बाजारसे सुन्दर-सा कपड़ा खरीद लाये और उसे गेरुए रङ्गमें रङ्गकर उससे एक तोषक और एक तकिया तैयार करवाया। फिर उसमें रूई डालकर उनको गोविन्दके हाथोंमें देकर बोले—"भाई! इन्हें महाप्रभुके लिए बिछा देना।" गोविन्दने डरते-डरते बिछा तो दिया, परन्तु महाप्रभुने ज्यों ही तोषक और तकियेको देखा, गोविन्दसे तुरन्त ही फेंक देनेके लिए कहा। पुनः कुछ क्रुद्ध होनेपर स्वरूप दामोदरसे बोले—"तुम सब लोग मिलकर मेरा धर्म नष्ट करनेपर तुले हुए हो। जगदानन्द तो यह चाहता है कि मैं संन्यासी होकर भी विषयोंको भोगता रहूँ। आज तोषक-तकिया चाहिये, कल पलङ्गकी आवश्यकता होगी। परसों एक पैर दबाने और तेल मालिश करनेवालेकी आवश्यकता होगी। एक गृहत्यागी संन्यासीको यह शोभा नहीं देता। उसे तो शरीर धारणके लिए कुछ रूखा-सूखा भोजन चाहिये। सोनेके लिए भूमि यथेष्ट है। तुम लोगोंको ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये जिससे मेरा संन्यास धर्म नष्ट हो।" ऐसा सुनकर सब लोग मौन हो गये।

किन्तु जगदानन्दको चैन कहाँ? उन्होंने स्वरूप दामोदरसे परामर्शकर दूसरे ही दिन कुछ सूखे हुए केलेके पत्तोंको बटोर

लाया और उन्हें नाखूनोंसे चीर-चीरकर बारीक बनाया। फिर उन्हें महाप्रभुजीके बहिर्वासमें भरकर एक पतली-सी तोशक और छोटा-सा तकिया तैयार किया। बहुत कहने-सुननेपर महाप्रभुने उन्हें व्यवहारमें लाना स्वीकार किया।

इस प्रकार महाप्रभुका प्रत्येक आचार गृहत्यागी वैष्णवोंके लिए आदर्श है।

गृहस्थ एवं त्यागी दोनोंके लिए कृष्णनाम-मन्त्रमें दीक्षा एवं गुरुकरण आवश्यक

यहाँपर गृहस्थ हो अथवा त्यागी, वैष्णवमात्रके लिए ही सद्वृत्तिका वर्णन किया जा रहा है। इस कलियुगमें श्रीकृष्णमन्त्र तथा श्रीकृष्णनामके अतिरिक्त अन्य कोई धर्म नहीं है। अतः श्रीकृष्णमन्त्रमें दीक्षा ग्रहण करना सभीके लिए बहुत आवश्यक है—

कृष्णमन्त्र हैते ह'बे संसार-मोचन।
कृष्णनाम हैते पा'बे कृष्णेर चरण॥

नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म।
सर्वमन्त्र-सार नाम,—एइ शास्त्र मर्म॥

कृष्णनामे ये आनन्दसिन्धु-आस्वादन।
ब्रह्मानन्द ता'र आगे खातोदक-सम॥

सदा नाम ल'बे, यथालाभेते सन्तोष।
एइमत आचार करे भक्तिधर्म-पोष॥

ज्ञान-कर्म-योग-धर्मे नहे कृष्ण वश।
कृष्णवशहेतु एक—कृष्णप्रेम-रस॥

(चै॰ च॰ आ॰ ७/७३-७४, ९७; १७/३०, ७५)

कृष्णमन्त्रके द्वारा संसार बन्धनका नाश होता है तथा कृष्णनामके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्ति होती है। यह कृष्णनाम समस्त मन्त्रोंका भी सार है। कृष्णनामका आश्रय ग्रहण करनेपर जो आनन्द प्राप्त होता है, ब्रह्मानन्द उसके एक बूँदके समान ही है। इसलिए जीवन-निर्वाहके लिए जो कुछ प्राप्त हो जाये, उसीमें सन्तुष्ट रहकर निरन्तर कृष्णनामका कीर्त्तन करते रहना चाहिये। इस प्रकार स्वयं आचरणकर भक्तिधर्मका प्रचार भी करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान-कर्म-योग इत्यादिके द्वारा श्रीकृष्ण वशीभूत नहीं होते। उन्हें तो केवल (प्रेम) भक्तिके द्वारा ही वशमें किया जा सकता है।

गुरुकरणके विषयमें भी श्रीचैतन्यचरितामृत (मध्यलीला ८/१२७, २२०, २२८) में वर्णन है—

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेइ कृष्णतत्त्व-वेत्ता, सेइ गुरु हय॥

रागानुग-मार्गे ताँ'रे भजे जेइ जन।
सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्र-नन्दन॥

सिद्धदेहे चिन्ति' करे ताहाँञि सेवन।
सखीभावे पाय राधा-कृष्णेर चरण॥

ब्राह्मण हो, संन्यासी हो अथवा शूद्र ही क्यों न हो, जो कृष्णतत्त्वको भलीभाँति जानता है तथा रागमार्गसे कृष्णका भजन कर रहा है, वही सद्‌गुरु है। ऐसे सद्‌गुरुके आनुगत्यमें कृष्णका भजन करनेसे अतिशीघ्र ही व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त हो जाती है। जो साधनकालमें अपने सिद्धरूपकी चिन्ताकर उसीके अनुसार सेवा करता है, अर्थात् स्वयंको श्रीमती राधिकाकी किङ्करी जानकर उसीके अनुसार सेवा करता है, वह अतिशीघ्र सखीभावसे राधाकृष्णकी सेवा प्राप्त करते हैं।

दोनोंके लिए ही दुःसङ्गत्याग आवश्यक

साधकको सदा-सर्वदा अपनेसे श्रेष्ठ किसी स्वजातीयाशय स्निग्ध साधुका सङ्ग करना चाहिये। जैसा कि श्रीचैतन्यचरितामृतमें रायरामानन्द संवादमें स्वयं महाप्रभुने कहा—

श्रेयो-मध्ये कोन् श्रेयः जीवेर हय सार?

अर्थात् जगत्में बहुत प्रकारके श्रेय हैं। उनमेंसे कौन-सा श्रेय जीवके लिए सर्वश्रेष्ठ है?

रामानन्दजीने उत्तर दिया—

कृष्णभक्त-सङ्ग बिना श्रेयः नाहि आर॥
(चै॰ च॰ म॰ ८/२५०)

अर्थात् कृष्णभक्तसङ्गके अतिरिक्त अन्य कोई श्रेय नहीं है।

सम्प्रदाय अन्तर्गत वैष्णव होनेपर भी सङ्गके विचार ऐसे हैं, यथा—

यहाँ एक बात विचारणीय है कि साम्प्रदायिक वैष्णव होनेपर भी यदि किसीके विचारोंमें कुछ सैद्धान्तिक दोष आ जाये तो ऐसे वैष्णवका सङ्ग नहीं करना चाहिये। स्वयं महाप्रभु उडुपीमें मध्वाचार्य सम्प्रदायके वर्त्तमान आचार्यसे बोले—

प्रभु कहे—"कर्मी, ज्ञानी—दुइ भक्ति हीन।
तोमार सम्प्रदाये देखि सेइ दुइ चिह्न॥

सबे एक गुण देखि तोमार सम्प्रदाये
'सत्यविग्रह ईश्वरे' करह निश्चये॥"
(चै॰ च॰ म॰ ९/२७६-२७७)

"कर्मी एवं ज्ञानी—ये तो दोनों ही भक्तिहीन हैं। और तुम्हारे सम्प्रदायमें उन्हींके लक्षणोंको देख रहा हूँ। परन्तु तुम्हारे सम्प्रदायमें मात्र एक गुण है कि इसमें भगवान्के विग्रहको स्वीकार किया गया है।"

जहाँपर भक्तिसिद्धान्तोंका विरोध एवं रसाभास देखा जाता है, वहाँपर रहना उचित नहीं है—

भक्तिसिद्धान्त-विरुद्ध आर रसाभास।
सुनिले ना हय प्रभुर चित्तेर उल्लास॥
(चै॰ च॰ म॰ १०/११३)

अर्थात् यदि कोई व्यक्ति कोई श्लोक अथवा गीत इत्यादि रचनाकर महाप्रभुको सुनानेके लिए लाते तो पहले स्वरूप दामोदर उस श्लोक अथवा गीतको देखकर यह निर्णय करते थे कि इससे प्रभु सन्तुष्ट होंगे अथवा नहीं। क्योंकि भक्तिसिद्धान्त विरुद्ध तथा रसाभासपूर्ण बातोंको श्रवणकर प्रभु अप्रसन्न हो जाते थे।

दोनोंके लिए ही परोपकार एवं साधुसेवा आवश्यक

भजनमें जिन समस्त सद्गुणोंकी आवश्यकता होती है, सदा-सर्वदा उन गुणोंको ग्रहण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। वैष्णवोंका स्वभाव कैसा होता है, इस विषयमें चैतन्यचरितामृतमें वर्णन है—

महानुभवेर चित्तेर स्वभाव एइ हय।
पुष्पसम कोमल, कठिन बज्रमय॥
(चै॰ च॰ म॰ ७/७२)

वैष्णवोंका हृदय पुष्पके समान कोमल तथा बज्रके समान कठोर होता है।

उनके परोपकारके विषयमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें ही वर्णन है—

महान्तेर स्वभाव एइ—तारिते पामर।
निज कार्य नाहि, तबु जान ता'र घर॥
(चै॰ च॰ म॰ ८/३९)

अर्थात् महापुरुषोंका यही स्वभाव है कि वे पतितोंका उद्धार करनेके लिए ही उनके घरोंको जाते हैं। इसमें उनका अपना लेशमात्र भी स्वार्थ नहीं होता।

प्रतिज्ञा कैसी करनी चाहिये—

प्रभु कहे—"कह तुमि, नाहि किछु भय।
योग्य हैले करिब, अयोग्य हैले नय॥"
(चै॰ च॰ म॰ ११/४)

सार्वभौम द्वारा प्रभुसे प्रतापरुद्रपर कृपा करनेके लिए प्रार्थना करनेपर प्रभु बोले—"तुम भय मत करो, बोलो। यदि करने योग्य हुआ तो करूँगा, अन्यथा नहीं।"

वैष्णवोंसे प्रीति करनी चाहिये, इससे कृष्ण सन्तुष्ट होते हैं—

प्रभु कहे—"तुमि कृष्णभक्त-प्रधान।
तोमाके ये प्रीति करे, सेइ भाग्यवान्॥"
(चै॰ च॰ म॰ ११/२६)

प्रभु बोले—"तुम कृष्णभक्तोंके प्रधान हो। जो तुमसे प्रीति करता है, वह तो महाभाग्यवान है।"

अनुरागी भक्तोंकी दृढ़ताके विषयमें वर्णन आता है—

किन्तु अनुरागी लोकेर स्वभाव एक हय।
इष्ट ना पाइले निज प्राण से छाड़य॥
(चै॰ च॰ म॰ १२/३१)

अर्थात् श्रीमद् नित्यानन्द प्रभु श्रीमन् महाप्रभुसे कह रहे हैं कि अनुरागी भक्तोंका ऐसा ही स्वभाव होता है कि यदि वे अपने आराध्यको प्राप्त नहीं कर पाते हैं, तो अपना शरीर ही परित्याग कर देते हैं।

स्वयं आचरणकर शिक्षादान तथा हृदयकी शुद्धता आवश्यक

सच्चरित्र द्वारा दूसरोंको शिक्षा—

तुमि भाल करियाछ, शिखाह अन्येरे।
एइमत भाल कर्म सेइ जेन करे॥
(चै॰ च॰ म॰ १२/११७)

प्रभु बोले—"तुमने बहुत अच्छी सेवा की है। ऐसा ही दूसरोंको भी सिखाओ, जिससे कि वे भी अच्छी तरह सेवा करें।"

भजन-साधनमें यत्नाग्रह आवश्यक है—

यत्नाग्रह बिना भक्ति न जन्माय प्रेमे॥

(चै॰ च॰ म॰ २४/१६५)

भजन-साधनमें विशेष रूपसे यत्न न करनेपर कृष्णप्रेम कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता।

तार्किकोंका सङ्ग सर्वथा परित्याग करने योग्य है—

तार्किक श्रृगाल सङ्गे भेउ भेउ करि।
सेइ मुखे एबे सदा कहि 'कृष्ण हरि'॥

(चै॰ च॰ म॰ १२/१८३)

जब श्रीमन् महाप्रभुकी कृपासे सार्वभौम भट्टाचार्यका हृदय परिवर्त्तन हो गया तथा वे कृष्णभक्तिमें प्रसन्न हो गये, तब वे कह रहे हैं—"मैं तो श्रृगालके समान तार्किकोंके सङ्गमें भेउ-भेउ करता था; अर्थात् व्यर्थ ही तर्क-वितर्क करनेमें ही समय व्यतीत कर रहा था, परन्तु उसी मुखसे निरन्तर कृष्ण, हरि इत्यादि भगवान्के नामोंका गान कर रहा हूँ।"

परदुःख-कातरता—

जीवेर दुःख देखि' मोर हृदय विदरे।
सर्वजीवेर पाप प्रभु देह' मोर शिरे॥

जीवेर पाप लञा मुञि करि नरकभोग।
सकल जीवेर, प्रभु, घुचाह भवरोग॥

(चै॰ च॰ म॰ १५/१६२-१६३)

वासुदेव दत्त ठाकुर प्रभुसे प्रार्थना करने लगे—"प्रभो! इन जीवोंका दुःख देखकर मेरा हृदय फटने लगता है। अतः मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इन सभीके पाप मुझे दे दीजिये, इनके

बदले मैं नरक भोग करूँगा तथा इन सभीके भवरोगका नाश कीजिये।"

निर्मल हृदयकी आवश्यकता—

सहजे निर्मल एइ ब्राह्मण हृदय।
कृष्णेर बसिते एइ योग्य स्थान हय॥
(चै० च० म० १५/२७४)

प्रभु बोले—"हे ब्राह्मण! ब्राह्मणका हृदय तो स्वाभाविक रूपसे ही निर्मल होता है तथा कृष्णके बैठनेके लिए वह उपयुक्त स्थान होता है।"

मात्सर्य—दोषका त्याग आवश्यक है

मात्सर्य अर्थात् दूसरेकी उन्नति देखकर चिढ़नेकी वृत्तिका त्याग करना आवश्यक है—

मात्सर्य-चण्डाल केने इहा बसाइला।
परम पवित्र स्थान अपवित्र कैला॥
(चै० च० म० १५/२७५)

तुमने ऐसे कृष्णके योग्य स्थानमें मात्सर्यरूप चण्डालको बिठाया? इससे यह परम पवित्र स्थान अपवित्र हो गया है।

महाप्रभुके प्रति भक्तोंकी निष्ठा—

प्रभु लागि' धर्म-कर्म छाड़े भक्तगण।
भक्त-धर्म-हानि प्रभुर ना हय सहन॥
(चै० च० म० १६/१४८)

प्रभुके लिए भक्तगण धर्म-कर्म सब परित्याग कर देते हैं तथा प्रभु भी अपने भक्तोंके धर्मकी हानि सहन नहीं कर सकते।

सम्पूर्ण रूपसे दोषत्याग अत्यावश्यक—

से केने राखिबे तोमार शेष विषय-भोग?
रोग खण्डि' सद्वैद्य ना राखे शेष रोग॥
(चै॰ च॰ म॰ २०/९१)

प्रभु बोले—"सनातन! जब कृष्णने तुम्हारे समस्त विषय छुड़वा दिये, तो फिर यह छोटा-सा कम्बल क्यों रखते हो? एक अच्छा वैद्य रोगको जड़से समाप्त कर देता है। लेशमात्र भी रोगको नहीं रखता।"

श्रद्धा, शरणागति तथा निरपेक्षता आवश्यक

भक्तिसिद्धान्तोंमें श्रद्धा करना आवश्यक है—

'श्रद्धा'-शब्दे 'विश्वास' कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥
(चै॰ च॰ म॰ २२/६२)

'श्रद्धा' शब्दका अर्थ दृढ़ निश्चय अथवा दृढ़ विश्वास है कि कृष्णकी भक्ति करनेसे समस्त प्रकारके कर्म करना हो जाता है।

शरणागतिकी आवश्यकता—

शरण लञा करे कृष्णे आत्म-समर्पण।
कृष्ण ता'रे करे तत्काले आत्मसम॥
(चै॰ च॰ म॰ २२/९९)

जब कोई गुरुदेवके श्रीचरणोंमें शरण लेकर कृष्णके चरणोंमें आत्मसमर्पण करता है, तो कृष्ण उसे तुरन्त अपना लेते हैं।

अनुतापपूर्वक कुमतका त्याग—

परमार्थ-विचार गेल, करि मात्र वाद।
काहाँ मुञि पा'ब, काहाँ कृष्णेर प्रसाद॥
(चै॰ च॰ म॰ २५/४२)

व्यर्थका वाद-विवादकर मेरा परमार्थका विचार अर्थात् भगवान्के प्रति श्रद्धा नष्ट हो गयी है। अब मैं कृष्णकी कृपा कैसे प्राप्त करूँ?

सर्वदा निरपेक्षता आवश्यक—

'निरपेक्ष' नहिले 'धर्म' ना जाय रक्षणे।
(चै॰ च॰ अ॰ ३/२३)

निरपेक्ष हुए बिना धर्मकी रक्षा नहीं की जा सकती।

वैष्णवापराधसे डरना उचित है—

महान्तेर अपमान ये देश-ग्रामे हय।
एक जनार दोषे सब ग्राम उजाड़य॥
(चै॰ च॰ अ॰ ३/१६३)

जिस देशमें अथवा जिस ग्राममें वैष्णवोंका अपमान होता है, एक व्यक्तिके दोषसे सारा गाँव ही उजड़ जाता है।

क्षमा करना कर्त्तव्य है—

'भक्त-स्वभाव,—अज्ञ-दोष क्षमा करे॥'

'दीने दया करे—साधु-स्वभाव हय॥'

प्रभु बोले,—"विप्र सब दम्भ परिहरि'।
भज गिया कृष्ण, सर्वभूते दया करि'॥"
(चै॰ च॰ अ॰ ३/२११, २३५; चै॰ भा॰ आ॰ १३/१८२)

अज्ञोंके दोषोंको क्षमा करना भक्तोंका स्वभाव ही है तथा दीनोंपर दया करना साधुका स्वभाव है। प्रभु बोले—"हे विप्र! तुम समस्त प्रकारके दम्भ त्यागकर कृष्णका भजन करो।"

आचार-प्रचार एवं वैष्णवोंको मर्यादा देना आवश्यक

भक्तिका स्वयं आचरणकर प्रचार करना कर्त्तव्य है—

'आचार', 'प्रचार' नामेर करह दुइ कार्य।
तुमि—सर्वगुरु, तुमि—जगतेर आर्य॥
(चै॰ च॰ अ॰ ४/१०३)

प्रभु बोले—"हरिदास! आप स्वयं आचरण भी करते हैं तथा प्रचार भी करते हैं। इसलिए आप जगत्‌में सर्वश्रेष्ठ तथा जगद्गुरु हैं।"

मर्यादा पालन कर्त्तव्य—

तथापि भक्त-स्वभाव—मर्यादा-रक्षण।
मर्यादा-पालन हय साधुर भूषण॥
(चै॰ च॰ अ॰ ४/१३०)

फिर भी मर्यादाकी रक्षा करना भक्तोंका स्वभाव है तथा यही उनके लिए भूषणस्वरूप है।

वैष्णवोंके प्रति अप्राकृत बुद्धिकी आवश्यकता—

प्रभु कहे—"वैष्णव देह 'प्राकृत' कभु नय।
'अप्राकृत' देह भक्तेर 'चिदानन्दमय'॥"
(चै॰ च॰ अ॰ ४/१९१)

प्रभु बोले—"वैष्णवोंका शरीर कभी भी प्राकृत नहीं होता। उनका शरीर अप्राकृत एवं चिदानन्दमय होता है।"

सभीके लिए विषय, प्रतिष्ठा ग्राम्यकथा परित्यागकर भगवान्‌की सेवा करना कर्त्तव्य है

समस्त सांसारिक कार्योंको पूर्णकर निर्जन भजनकी आवश्यकता—

एक वत्सर रूपगोसाञिर गौड़े विलम्ब हइल।
कुटुम्बेर स्थिति-अर्थ विभाग करि' दिल॥

गौड़े ये अर्थ छिल, ताहा आनाइला।
कुटुम्ब-ब्राह्मण-देवालये बाँटि' दिला॥

सब मनःकथा गोसाञि करि निर्वाहण।
निश्चिन्त हञा शीघ्र आइला वृन्दावन॥
(चै॰ च॰ अ॰ ४/२१४—२१६)

वृन्दावन आनेसे पूर्व श्रीरूपगोस्वामीने सञ्चित सारी सम्पत्ति अपने परिवारमें, ब्राह्मणोंको एवं मन्दिरोंमें बाँट दी। इसके अतिरिक्त उनके मनमें जो बातें थीं, उन्हें भी पूर्णकर शीघ्र ही निश्चिन्त होकर वृन्दावन आ गये।

प्रतिष्ठाकी आशाको त्यागना आवश्यक है—

महानुभवेर एइ मत 'स्वभाव' हय।
आपनार गुण नाहि आपने कहय॥
(चै॰ च॰ अ॰ ५/७८)

वैष्णवोंका यही स्वभाव है कि वे अपनी प्रशंसा अपने मुखसे नहीं कर सकते।

ग्राम्य काव्यमें अश्रद्धा आवश्यक—

ग्राम्य-कविर कवित्व शुनिते हय दुःख।
विदग्ध-आत्मीय-वाक्य शुनते हय सुख॥
(चै॰ च॰ अ॰ ५/१०७)

स्वरूप दामोदर बोले—ग्राम्य कवि अर्थात् जो साधारण स्त्री-पुरुषोंके विषयमें कविताएँ लिखते हैं, उनकी रचनाओंको सुननेपर प्रभुको दुःख होता है। परन्तु तत्त्वज्ञानमें निपुण तथा शुद्ध भक्तसम्प्रदायभुक्त भक्तकविकी रचनाओंको सुनकर उन्हें प्रसन्नता होती है।

गुरुकी अवज्ञा, विद्याका गर्व, दिग्विजयादि निषिद्ध है

गुरुकी अवज्ञा भीषणतम नामापराध है—

गुरु उपेक्षा कैले ऐछे फल हय।
क्रमे ईश्वर-पर्यन्त अपराधे ठेकय॥
(चै॰ च॰ अ॰ ८/९७)

गुरुकी उपेक्षा अर्थात् अवज्ञा करनेका इतना भयङ्कर परिणाम होता है कि अन्तमें क्रमशः वह अवज्ञाका अपराध भगवान् तक पहुँच जाता है।

मुमुक्षुता व विद्यागर्वका त्याग उचित—

रामदास यदि प्रथम प्रभुरे मिलिला।
महाप्रभु अधिक ताँरे कृपा ना करिला॥

'अन्तरे मुमुक्षु तेंहो, विद्या-गर्ववान्॥'
(चै॰ च॰ अ॰ १३/१०९-११०)

अर्थात् रामदास जब प्रथम बार प्रभुसे मिले तो प्रभुने उनपर विशेष कृपा नहीं की, क्योंकि अन्तर्यामी प्रभु जानते थे कि उनके हृदयमें मुक्तिकी कामना है तथा उन्हें अपनी विद्वत्ताका अभिमान था।

दैन्य अत्यावश्यक—

प्रेमेर स्वभाव, जाहाँ प्रेमेर सम्बन्ध।
सेइ माने—'कृष्णे मोर नाहि भक्तिगन्ध'॥
(चै॰ च॰ अ॰ २०/२८)

प्रेमका ऐसा ही स्वभाव है कि जिसके हृदयमें जितना अधिक प्रेम उदित होता है, वह समझता है कि उसके हृदयमें कृष्णके प्रति भक्तिका गन्ध भी नहीं है।

दिग्विजयी होनेकी इच्छाका त्याग उचित है—

'दिग्विजय करिब'—विद्यार कार्य नहे।
ईश्वरे भजिले, सेइ विद्या सत्य कहे॥
(चै॰ भा॰ आ॰ १३/१७३)

प्रभु बोले—"दिग्विजय करना विद्याका कार्य नहीं है, बल्कि कृष्णभजन करनेमें ही विद्याकी सार्थकता है।"

भक्तका सभी जीवोंके प्रति अपनत्व–बुद्धि, भक्तिपथमें दृढ़ निष्ठा तथा शत्रुकी भी मङ्गल कामना

एकेश्वर बुद्धि तथा समस्त जीवोंके प्रति अपनत्व बुद्धि आवश्यक है—

शुन, बाप सबारइ एकइ ईश्वर॥

नाममात्र भेद करे हिन्दुये घरने।
परमार्थे एक कहे कोराणे पुराणे॥

एक शुद्ध नित्य–वस्तु अखण्ड अव्यय।
परिपूर्ण हञा बैसे सबार हृदय॥

से–प्रभुर नाम–गुण सकल जगते।
बलेन सकले मात्र निज–शास्त्रमते॥

जे ईश्वर, से पुनः सबार भाव लय।
हिंसा करिलेइ से, ताहान हिंसा हय॥

(चै॰ भा॰ आ॰ १६/७६–७८, ८०–८१)

हरिदास ठाकुर बोले—"ईश्वर एक ही है। हिन्दु एवं मुसलमानोंके अनुसार केवल नामोंका ही भेद है। परन्तु कुरान एवं पुराण शास्त्रोंके अनुसार ईश्वर एक ही है। वे शुद्ध, नित्य, अखण्ड एवं अव्यय वस्तु अपने पूर्ण स्वरूपमें सभीके हृदयमें विराजमान रहकर जिसे जैसी प्रेरणा प्रदान करते हैं, वह वैसा ही आचरण करता है। उन्ही प्रभुके नाम, गुण इत्यादिका गान जगत्में सभी लोग अपने–अपने शास्त्रानुसार करते हैं तथा भगवान् भी उन सभीके भावोंको ग्रहण करते हैं। अतः इस विषयमें किसीकी हिंसा करनेपर भगवान्की हिंसा होती है।

भक्तिमार्गमें सर्वदा दृढ़ता आवश्यक—

खण्ड खण्ड हइ देह, जाय यदि प्राण।
तबु आमि बदने ना छाड़ि हरिनाम॥
(चै॰ भा॰ आ॰ १६/९४)

हरिदास बोले—"मेरे शरीरके टुकड़े-टुकड़े भी हो जायें अथवा प्राण ही क्यों न निकल जायें, परन्तु फिर भी मैं हरिनाम नहीं छोड़ूँगा।

शत्रुके प्रति भी दया भाव—

ए सब जीवेरे कृष्ण! करह प्रसाद।
मोर द्रोहे नहु ए सबार अपराध॥
(चै॰ भा॰ आ॰ १६/११३)

वे भगवान्से प्रार्थना करने लगे—"हे कृष्ण! इनपर कृपा कीजिये। ये लोग जो मेरे प्रति द्रोह आचरण कर रहे हैं, फलस्वरूप आप इन्हें दण्ड मत देना।"

दाम्भिकता, प्रतिष्ठाशा एवं वैष्णवोंमें जातिबुद्धि परित्यज्य

दाम्भिकताका लक्षण प्रतिष्ठाशा और कपटताका अवश्य त्याग करना चाहिये।

बड़ लोक करि' लोक जानुक आमारे।
आपनारे प्रकटाइ धर्मकर्म करे॥

ए सकल दाम्भिकेर कृष्णे प्रीति नाइ।
अकैतब हइले से कृष्णभक्ति पाइ॥
(चै॰ भा॰ आ॰ १६/२२८-२२९)

अर्थात् जिसकी इच्छा होती है कि जगत्में लोग मुझे महान व्यक्तिके रूपमें जानें, तथा उसके लिए वे खूब धर्म-कर्म करते हैं। ऐसे दाम्भिकोंपर कृष्णकी कृपा नहीं होती। निष्कपट लोग ही कृष्णभक्ति प्राप्त करते हैं।

वैष्णवोंके प्रति जातिबुद्धि परित्यज्य—

अधम कुलेते यदि विष्णुभक्त हय।
तथापि सेइ से पूज्य'—सर्वशास्त्रे कय॥

उत्तम कुलेते जन्मि, श्रीकृष्णे ना भजे।
कुले तार कि करिबे, नरकेते मजे॥
(चै० भा० आ० १६/२३८-२३९)

सभी शास्त्र घोषणा कर रहे हैं कि नीचकुलमें भी यदि भगवद्भक्त जन्म ग्रहण करे, तो वह जगत्पूज्य है। परन्तु उत्तमकुलमें जन्म प्राप्त करनेपर भी यदि कोई कृष्णभजन न करे तो वह नरकका अधिकारी है। वह उत्तमकुल उसका 'उद्धार' नहीं कर सकता।

उच्च-सङ्कीर्त्तनका महत्त्व—

जपकर्त्ता हैते उच्च-सङ्कीर्त्तनकारी।
शत-गुण अधिक से पुराणेते धरि॥

शुन विप्र! मन दिया इहार कारण।
जपि' आपनारे सबे करये पोषण॥

उच्च करि' करिले गोविन्द-सङ्कीर्त्तन।
जन्तुमात्र शुनिञाइ पाय विमोचन॥
(चै० भा० आ० १६/२८४—२८६)

हरिदास ठाकुर कहने लगे—"हे विप्र! मन-ही-मन नामका जप करनेवालेकी अपेक्षा उच्चस्वरसे कीर्त्तन करनेवालेको सौ गुना अधिक फल मिलता है। क्योंकि मन-ही-मन जप करनेवाला केवल अपना ही उद्धार करता है, परन्तु उच्चस्वरसे कीर्त्तन करनेपर जीव-जन्तुओंके कानोंमें भी भगवान्‌का नाम प्रवेश कर जाता है, जिससे उनका भी उद्धार हो जाता है।

भारवाहित्व, परहिंसा तथा सेवापराध वर्जनीय

शास्त्रोंकी बातोंको केवल गर्दभकी भाँति वहन न कर उनके तात्पर्यको जानना आवश्यक है—

शास्त्रेर ना जाने मर्म, अध्यापना करे।
गर्दभेर प्राय जेन शास्त्र बहि' मरे॥
(चै० भा० म० १/१५८)

प्रभु बोले—"जो शास्त्रोंका अध्यापन तो करते हैं, परन्तु स्वयं शास्त्रोंका तात्पर्य नहीं जानते, वे भार ढोनेवाले गधेकी भाँति ही शास्त्रोंको वहन करते-करते मर जाते हैं।

परहिंसा त्यज्य—

भक्तिहीन-कर्मे कोन फल नाहि पाय।
सेइ कर्म भक्तिहीन—परहिंसा जाय॥
(चै० भा० म० १/२४०)

भक्तिरहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे फल प्राप्त नहीं होता, बल्कि उन कर्मोंसे दूसरोंकी हिंसा ही होती है।

सेवापराध वर्जनीय—

सेवाविग्रहेर प्रति अनादर जा'र।
विष्णुस्थाने अपराध सर्वदा ताहार॥
(चै० भा० म० ५/१२१)

जिसका सेवाविग्रह अर्थात् भक्तोंके प्रति अनादरका भाव होता है, उसका सर्वदा ही भगवान्‌के चरणोंमें अपराध होता है।

अन्तर्निष्ठ तथा निरहङ्कारी व्यक्ति वैष्णव-पदवाच्य

हृदयमें वैष्णवता तथा बाहरसे विषय होनेपर भी व्यक्ति भक्त होता है—

विषयीर प्राय ताँर परिच्छद-सब।
चिनिते ना पारे केह तिंहो जे वैष्णव॥

आसिया रहिल नवद्वीपे गूढ़रूपे।
परम भोगीर प्राय सर्वलोक देखे॥
(चै॰ भा॰ म॰ ७/२२, ३८)

श्रीमन् महाप्रभु पुण्डरीक विद्यानिधिके विषयमें कह रहे हैं—"वे नवद्वीपमें आकर गुप्त रूपसे रह रहे हैं। उनकी समस्त व्यावहारिक क्रियाएँ एक विषयी व्यक्तिकी भाँति ही है। जिससे कोई उन्हें पहचान नहीं पाता कि वे परम वैष्णव हैं। सभी लोग, जिन्हें उनके सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, वे उन्हें एक विषय-भोगीके रूपमें देखते हैं।"

विद्याहङ्कार त्याग करना चाहिये—

कि करिबे विद्या, धन, रूप, यश, कुले।
अहङ्कार बाड़ि' सब पड़ये निर्मूले॥
(चै॰ भा॰ म॰ ९/२३४)

यदि भगवद्भजन नहीं हुआ तो विद्या, धन, रूप, यश तथा उच्चकुलमें जन्म ग्रहण करनेका अहङ्कार निरर्थक है।

पाँचमिशाली मतवाद, पक्षपात दोष, पापाचरण, विषयमदान्धता वैष्णवताके विपरीत

वैष्णवको सर्वदा अपने एक ही मतपर दृढ़ रहना चाहिये। विभिन्न प्रकारके लोगोंका मन रखनेके लिए विभिन्न स्थानोंमें अनेक प्रकारके मतोंकी बातें नहीं कहनी चाहिये—

क्षणे दन्ते तृण लय, क्षणे जाठि मारे।
ओ खड़-जाठिया बेटा ना देखिबे मोरे॥

प्रभु बले,—"ओ बेटा जखन यथा जाय।
सेइ मत कथा कहि' तथाय मिशाय॥

भक्ति-स्थाने उहार हइल अपराध।
एतेके उहार हैल दरशन-बाध॥
(चै॰ भा॰ म॰ १०/१८५, १८८, १९२)

प्रभु मुकुन्दके विषयमें कह रहे हैं—"यह खड़जाठिया है। कभी दान्तोंमें तृण (खड़) धारण करता है, अर्थात् वैष्णवोंकी सभामें अपनेको दीन-हीन भगवान्‌का (मेरा) सेवक मानता है। परन्तु जब मायावादियोंकी सभामें जाता है तो हाथमें जाठि (लठिया) धारण करता है, अर्थात् भगवान् (मुझे) निराकार, निर्विशेष, निर्गुण कहकर मेरी निन्दा करता है। इस प्रकार यह सुविधावादी है। अतः इसका भक्तिदेवीके चरणोंमें अपराध होनेके कारण यह मेरा दर्शन नहीं कर सकता।"

वैष्णवोंमें पक्षपात नहीं करना चाहिये—

ये पापिष्ठ एक वैष्णवेर पक्ष हय।
अन्य वैष्णवेरे निन्दे, सेइ जाय क्षय॥
(चै॰ भा॰ म॰ १३/१६०)

अर्थात् जो पापी एक वैष्णवका पक्ष लेता है तथा दूसरे वैष्णवकी निन्दा करता है, उसका सर्वनाश सुनिश्चित है।

हरिनाम ग्रहणके पश्चात् पाप वर्जनीय—

प्रभु बले,—"तोरा आर ना करिस् पाप"।
जगाइ-माधाइ बले,—"आर नारे बाप"॥
(चै॰ भा॰ म॰ १३/२२५)

प्रभु जगाइ-माधाइसे बोले—"तुम दोनोंने आज तक जो पाप किये, सब नष्ट हो गये हैं, अब पुनः पाप मत करना।" दोनों बोले—"अब हम पुनः पाप नहीं करेंगे।"

विधि-निषेधके अतीत रहना चाहिये—

यत विधि-निषेध—सकलइ भक्ति-दास।
इहाते जाहार दुःख, सेइ जाय नाश॥

विषय-मदान्ध सब ए मर्म ना जाने।
सुत-धन-कुलमदे वैष्णव ना चिने॥
(चै॰ भा॰ म॰ १६/१४४, १४७)

शास्त्रोंमें जितने प्रकारके विधि-निषेधोंका वर्णन है, वे सभी भक्तिके अनुगत हैं। जिस भक्तिमें विधि-निषेधकी अपेक्षा रहती है, वह वैधीभक्ति है। ऐसी वैधीभक्तिका आचरण करते-करते कुछ समय बाद रागानुगाभक्तिका उदय होता है। रागानुगाभक्तिमें विधि-नियमोंकी अपेक्षा नहीं रहती। इसमें भक्त भगवान्‌की स्वाभाविक रूपमें आत्मवत् सेवा करता है। इसलिए यदि ऐसे भक्तके द्वारा विधि-नियमोंका उल्लंघन भी होता है, तो इससे उसकी कोई क्षति नहीं होती। परन्तु जो विषय मदसे अन्धा होकर तथा पुत्र-पत्नी-परिवार इत्यादिके मोहमें फँसकर ऐसे वैष्णवोंको न पहचानकर उनका दोष देखता है, अवश्य ही उसका विनाश हो जाता है।

पाषण्डी एवं अभक्तका सङ्ग वर्जनीय

सदा-सर्वदा पाषण्डियोंके साथ वार्त्तालापसे बचना चाहिये—

नगरे हइले किबा पाषण्ड-सम्भाष।
एइ बा कारणे नहे प्रेम-परकाश॥
(चै॰ भा॰ म॰ १७/१९)

प्रभु बोले—"ऐसा प्रतीत होता है कि आज अवश्य ही किसी पाषण्डीसे मेरा वार्त्तालाप हुआ है, इसी कारण मेरे हृदयमें कृष्णप्रेम उदित नहीं हो रहा है।"

अभक्तोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये—

यदि मोर पुत्र हय, हय वा किङ्कर।
'वैष्णवापराधी' मुञि ना देखों गोचर॥
(चै॰ भा॰ म॰ १९/१७५)

अद्वैताचार्य बोले—“मेरा पुत्र हो अथवा मेरा सेवक ही क्यों न हो, कोई भी यदि वैष्णवोंके चरणोंमें अपराध करता है तो मैं उसका मुख नहीं देखता।”

विष्णुभक्तिका श्रेष्ठत्व तथा धर्मध्वजीका काल्पनिक अवतार

अन्यान्य शुभकर्मोंके साथ भक्तिकी तुलना नहीं करनी चाहिये—

प्रभु बले,—“तपः करि’ ना करह बल।
विष्णुभक्ति सर्वश्रेष्ठ जानह केवल॥”
(चै॰ भा॰ म॰ २३/५४)

प्रभु बोले—“तपके द्वारा बल प्राप्त करनेकी चेष्टा मत करना। यह अच्छी तरहसे जान लो कि विष्णुभक्ति सर्वश्रेष्ठ है।”

धर्मध्वजी ढोंगी व्यक्ति समय-समयपर अपनेको अवतार कहकर प्रचार करते हैं। ऐसे ढोंगियोंसे सावधान रहना चाहिये—

मध्ये-मध्ये मात्र कत पापिगण गिया।
लोक नष्ट करे आपनारे लवाइया॥

उदर-भरण लागि’ पापिष्ठ-सकले।
‘रघुनाथ’ करि’ आपनारे केह बले॥
(चै॰ भा॰ आ॰ १४/८२-८३)

श्रीवृन्दावन दास ठाकुर कह रहे हैं—जबसे बङ्ग देशवासियोंपर महाप्रभुकी कृपा हुई है, तबसे नामसङ्कीर्त्तन ही उनका प्राणस्वरूप हो गया। परन्तु बीच-बीचमें वहाँ कुछ पापी लोग जाकर अपने कुमतका प्रचारकर वहाँके सरलचित्त लोगोंका सर्वनाश करते हैं। कुछ पापी लोग धन एवं मान-प्रतिष्ठारूप स्वार्थपूर्तिके लिए स्वयंको ‘रामचन्द्र’ कहकर लोगोंको वञ्चित करते हैं।

निष्कपट एवं निष्पाप जीवन–निर्वाहपूर्वक नामाश्रय करनेपर सर्वार्थसिद्धि होती है

भक्तलोग निष्कपट एवं निष्पाप रूपसे जीवनका निर्वाह करते–करते निरन्तर नामका आश्रय करेंगे। इससे श्रेष्ठ कोई दूसरा धर्म नहीं है—

अतएव कलियुगे नाम–यज्ञ सार।
आर कोन धर्म कैले नाहि हय पार॥

रात्रि–दिन नाम लय खाइते शुइते।
ताहार महिमा वेदे नाहि पारे दिते॥
(चै॰ भा॰ आ॰ १४/१३९–१४०)

इसलिए कलियुगमें श्रीकृष्णनाम–यज्ञ ही एकमात्र आत्मकल्याणका उपाय है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी धर्मका अवलम्बन करनेपर इस भवसागरसे पार नहीं हुआ जा सकता। इसलिए जो व्यक्ति रात–दिन, खाते समय, सोते समय एवं चलते–फिरते समय श्रीकृष्णनामका कीर्त्तन करता रहता है, उसकी महिमाका गान तो वेद भी नहीं कर पाते।

इस प्रकार पूर्वापर विचारपूर्वक साधुओंके स्वाभाविक गुणों तथा उनकी जीविका वृत्तिका अवलम्बनकर हरिभजन करना चाहिये। सत्–वृत्तिका अवलम्बन करनेसे शुद्धाभक्तिमें जैसी अनुकूलता प्राप्त होती है, वैसी और किसी भी उपायका अवलम्बन करनेसे प्राप्त नहीं होती।